राजस्थान की लघुचित्र शैलियां

राजस्थान ललित कला अकादमी

राजस्थान की लघुचित्र शैलियां

RAJASTHAN KI LAGHUCHITRA SHAILIYAN

[The miniature paintings of Rajasthan]

राजस्थान की लघुचित्र शैलियां

[प्रथम खण्ड]

सम्पादक
प्रेमचन्द्र गोस्वामी

राजस्थान ललित कला अकादमी
जयपुर
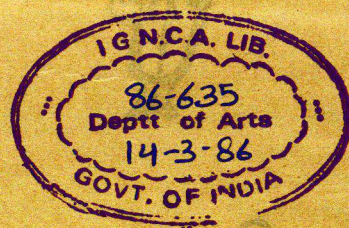
राजस्थानी जनजीवन के कुशल चित्रकार

स्व. भूरसिंह शेखावत

की पावन स्मृति में

राजस्थान की लघुचित्र शैलियां
[प्रथम खण्ड]

•

प्रेमचन्द्र गोस्वामी
द्वारा सम्पादित

•

सुन्दर मोहन स्वरूप भटनागर
सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी
जयपुर द्वारा प्रकाशित

•

अजन्ता प्रिन्टर्स, जयपुर
द्वारा मुद्रित

•

प्रथम संस्करण
मूल्य : ४०.०० रुपये मात्र

•

RAJASTHAN KI LAGHUCHITRA SHAILIYAN
[PRATHAM KHAND]

•

Edited by
PREM CHANDRA GOSWAMI

•

Published by
Sunder Mohan Swaroop Bhatnagar
Secretary, Rajasthan Lalit Kala Akademy, Jaipur

•

Printed at
Ajanta Printers, Jaipur

•

First Edition
Price : Rs. 40.00 only

आमुख

राजस्थान में लघुचित्रों का अक्षय भंडार है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व रियासतों या रजवाड़ों के संरक्षण में पनपी विभिन्न लघुचित्र शैलियों की बहुमूल्य कलाकृतियों ने मात्र भारतवर्ष का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। कला पारखी और कलाप्रेमी आये दिन लघुचित्रों की खान राजस्थान में मूल्यवान चित्र कृतियां खोज रहे हैं। इन चित्रों का आकर्षण अब उन व्यक्तियों के लिए भी खूब बढ़ गया है जो अनुपलब्ध कलाकृतियों के क्रय-विक्रय को व्यवसाय बनाए हुए हैं।

राजस्थानी लघुचित्रों और चित्रशैलियों के अतिशय प्रचार प्रसार के बाद भी इनके उद्‌भव पृष्ठभूमि और विकास का इतिहास बहुत कम लोगों की जानकारी में है। राजस्थान की इस पारम्परिक, अजस्र सांस्कृतिक कलाधारा का बहाव कहाँ से कहां तक है इस तथ्य की सम्पूर्ण तथा अधिकृत सूचना देने वाली पुस्तकों का हिन्दी में प्रायः अभाव सा है। यों जयपुर, किशनगढ़, मेवाड़, बीकानेर आदि राजस्थान की लघुचित्र शैलियों के विषय में हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में यत्र-तत्र कुछ सामग्री उपलब्ध होती है, किन्तु संकलित रूप से इन शैलियों के बारे में सम्पूर्ण और अधिकृत जानकारी देने वाली [illegible] का प्रकाशन हिन्दी में अभी तक अपेक्षित था।

राजस्थान ललित कला अकादमी की वर्षों से ऐसी योजना थी कि राजस्थान की इन प्रमुख और उपप्रमुख लघुचित्र शैलियों को सम्पूर्ण जानकारी देने वाली पुस्तक का प्रकाशन करके कलाप्रेमी पाठकों को इस प्रदेश की समृद्ध लघुचित्र कला से परिचित कराया जाय। इसके लिए अकादमी की ओर से इस क्षेत्र के जानकार कलाकारों, कला समीक्षकों और अन्य विद्वानों को अलग अलग शैलियों पर लेख लिखने के लिए आमंत्रित किया गया। इन सबके कृपापूर्ण सहयोग से 'राजस्थान की लघुचित्र शैलियां' पुस्तक का यह प्रथम खण्ड, जिसमें यहां की प्रमुख शैलियों का ही विवरण आ पाया है, आपके समक्ष प्रस्तुत है। पुस्तक के दूसरे खण्ड में यहां की उपलघुचित्र शैलियों के विषय में संकलित सामग्री उपलब्ध कराने की योजना है।

मैं उन सभी लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक में विभिन्न शैलियों पर ऐसी उपयोगी सामग्री लिखकर हमें सहयोग दिया है। साथ ही मैं अकादमी के सचिव श्री सुन्दर मोहन स्वरूप भटनागर का भी आभारी हूँ जिनके अपूर्व सहयोग और महत्वपूर्ण सुझावों के बल पर इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका।

जयपुर
जनवरी, १९७२

प्रेमचन्द्र गोस्वामी

अनुक्रम

जयपुर शैली

कुमार संग्राम सिंह

अपने आकर्षक शिल्प सौष्ठव, मोहक रंग विधान तथा विधिवत् रूप निर्माण के लिये विश्व भर में भारत का गुलाबी नगर जयपुर प्रसिद्ध है। श्रेष्ठ परम्परावादी लघुचित्रों, कलात्मक उद्योग, उल्लासपूर्ण त्योहारों तथा रंग बिरंगी वेष-भूषा का यह नगर प्रारम्भ से ही एक प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रसिद्ध नगरी के बसाने वाले महाराजा सवाई जयसिंह महान् गुणी तथा कला प्रेमी शासक थे। वे साहित्य प्रेमी, गणितज्ञ तथा ज्योतिष विद्या के भी ज्ञाता थे। देश के विभिन्न भागों से आये हुए कवि, संगीतज्ञ, कलाकार और नक्षत्रशास्त्री आदि आपके दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

दिल्ली पर जब औरंगजेब का प्रभुत्व था तब ललितकलाओं, विशेषतया चित्रकला के प्रति विपरीत रुख अपनाया गया। परिणामस्वरूप उन तमाम परम्परावादी कलाकारों में खलबली सी मच गई जो राजाश्रय पर निर्भर थे। उन्होंने स्वयं को जब आश्रय विहीन पाया तो उन्हें राजपूताना, पंजाब, कांगड़ा तथा मध्य भारत के राजा महाराजाओं का आश्रय लेना पड़ा। महाराजा जयसिंह ने दिल्ली की बिखरती हुई कलाकृतियों को अपने यहां संग्रहीत किया और अनेक कलाकारों को आश्रय दिया। जयपुर शैली का काल सन् १६०० से सन् १६०० तक माना जाता है।

सन् १६०० से सन् १६०० तक के मध्य जयपुर शैली ने राजस्थान के एक बहुत बड़े भू-भाग को प्रभावित किया। जयपुर राज्य के उत्तर में स्थित शेखावटी १८वीं शताब्दी के मध्य और उत्तरार्ध में जयपुर शैली से बने चित्रों तथा भित्ति चित्रों से समृद्ध हुआ। सीकर, नवलगढ़, रामगढ़,

लक्ष्मणगढ़, मुकुन्दगढ़, मंडावा, झूंझुनू, पिलानी, खेतड़ी आदि स्थानों पर पर भी अनेक भवनों में जयपुर शैली में निर्मित भित्ति चित्र विद्यमान हैं।

अलवर राज्य पर भी जयपुर का काफी प्रभाव रहा। सन् १७२० में ठा० प्रतापसिंह ने अलवर राज्य की स्थापना की। इस राज्य का काफी भाग जयपुर राज्य के आधीन रह चुका था। इसलिये अलवर की कला-कृतियों में जयपुर शैली का प्रभाव लक्षित होना नितान्त स्वाभाविक था। आगे चलकर मुगल शैली का प्रभाव भी उनमें दृष्टिगत होने लगा।

उनियारा का नरूका ठिकाना जयपुर और बूंदी की सीमा पर स्थित है। यहाँ के राव राजा संग्रामसिंह प्रथम, अजीतसिंह, सरदारसिंह तथा बिशनसिंह आदि बड़े कला प्रेमी थे। सरदारसिंह के समय धीमा, मीरबक्स, काशी राम आदि योग्य कलाकारों ने जयपुर एवं बूंदी की मिश्रित शैली में चित्रांकन किया। बिशनसिंह के काल में कांवला और बख्ता ने ठीक जयपुर शैली जैसी कलाकृतियों का निर्माण किया। उनमें बूंदी का प्रभाव बहुत कम दिखलाई देता है। राव राजा फतहसिंह के समय (१८२०–६७) से कला का ह्रास आरम्भ हुआ और संग्रामसिंह द्वितीय के समय में वह पूर्णत: समाप्त हो गयी।

उक्त राज्यों के अतिरिक्त भरतपुर, धौलपुर, करौली और टोंक ऐसे अन्य राज्य थे जहाँ की कलाकृतियों पर जयपुर शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भरतपुर की कृतियों में जयपुर और मथुरा शैलियों का मिश्रण है। यही बात धौलपुर की कृतियों में देखने को मिलती है। करौली की चित्र रचनाएं भी ठीक जयपुर जैसी ही हैं, केवल पगड़ी बांधने के ढंग में अन्तर है। टोंक की कृतियाँ जयपुर और मुगल शैली का मिश्रण प्रस्तुत करती हैं।

यहाँ जयपुर शैली के क्रमबद्ध विकास पर दृष्टिपात करना उचित होगा। जयपुर की पुरानी राजधानी आमेर थी। वहाँ पर जयपुर के महाराजाओं की कुछ छतरियाँ स्थित हैं। इनमें जो राजा भारमल की छतरी मानी जाती है उसमें कुछ सुन्दर भित्ति चित्र हैं जो राजस्थान के अति प्राचीन (१६००–१६१५) आरम्भिक मुगल काल के सुन्दर नमूने कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार बैराठ में स्थित मुगल गार्डन (उद्यान) में भी सुन्दर भित्ति चित्र हैं जो अकबर-काल के अन्त या जहांगीर-काल के प्रारम्भ के हैं। मुगलकाल के कुछ भित्ति चित्र मौजमाबाद के महल में हैं परन्तु वे अच्छी दशा में नहीं हैं और धीरे-धीरे नष्ट होते जा रहे हैं। महाराजा मानसिंह (जिनका जन्म मौजमाबाद के इसी महल में हुआ था) के समय (१५८९–१६१४) के बहुत ही कम लघु चित्र प्राप्य हैं।

इसके उपरान्त मिर्जा राजा जयसिंह (१६२२–६८) का काल आता है। इस काल के चित्र भी बहुत कम सख्या में उपलब्ध हैं। और वह भी

मुगल प्रभाव लिये हुए एक विशिष्ट प्रकार की लोक शैली में बने हुए हैं।

महाराजा सवाई जयसिंह प्रथम का राज्यकाल (१६९९–१७४३) कला की प्रगति की दृष्टि से कई अर्थों में महत्वपूर्ण रहा। तब लोक शैली में विशेष परिमार्जन हुआ। आपने बड़े वैज्ञानिक और नियमबद्ध तरीके से जयपुर नगर को बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। महान् गणितज्ञ, ज्योतिष तथा नक्षत्रशास्त्री होने के कारण उन्होंने यहां एक वेधशाला का भी निर्माण कराया और 'चन्द्र महल' 'जय निवास बाग', 'तालकटोरा' तथा 'सिसोदिया रानी का महल' जैसी भव्य इमारतें यहां बनवायीं। मुहम्मद शाह सवाई जयसिंह महाराज का दरबारी चित्रकार था। उसने एक पाण्डुलिपि को बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया था। कछवाहा शैली के इतिहास में महाराजा जयसिंह का काल चित्रकला के लिये काफी गौरव-शाली रहा। फिर भी कला के इतिहास में इस काल के प्राप्य चित्रों के बारे में भ्रम होता है, क्योंकि उन पर मुगल शैली का प्रभाव अत्यधिक दिखाई देता है।

सवाई जयसिंह के बाद उनके बड़े पुत्र महाराजा सवाई ईश्वरी सिंह (१७४३–१७५०) गद्दी पर बैठे। उन्होंने मराठों के खिलाफ विजय पाने के उपलक्ष में 'ईसर लाट' का निर्माण करवाया। साहिबराम जो उनके पिता के समय का चित्रकार था, अब एक मंजा हुआ कलाकार बन चुका था। उसने ईश्वरी सिंह जी का एक आदमकद चित्र चंदरस से बनाया था जो महाराजा जयसिंह प्रथम के चित्र से कहीं अधिक अच्छा है। इसी काल के दूसरे प्रमुख चित्रकार लाल चितारा का नाम भी उल्लेखनीय है। उसने जानवरों की लड़ाई के अनेकों चित्र बनाये थे। ये चित्र बड़े सजीव हैं और इनमें जानवरों और मनुष्यों के भय, उल्लास, दुःख आदि भावनाओं का सफल चित्रांकन हुआ है।

महाराजा माधोसिंह प्रथम का समय उथल पुथल से भरा रहा। मराठों और जाटों से तना-तनी बनी रहने के कारण उस काल में भवन निर्माण कार्य अधिक न हो सका। उन्होंने केवल 'माधो निवास' का निर्माण करवाया और सिसोदिया रानी के महल, गलता के मन्दिरों तथा चन्द्र महल की दीवारों को चित्रों से सज्जित करवाया। साहिबराम अब भी बड़े आकार के पोर्ट्रेट बनाता रहा। पोर्ट्रेट बनाने वाले दो और कुशल कलाकार इस काल में हुए जिनके नाम हैं रामजी दास और गोविन्द। उनका कार्य परिष्कृत होता था। लाल चितारा राजकीय खेलों के दृश्य चित्रित करने में मगन रहा। महाराजा ईश्वरी सिंह और माधोसिंह प्रथम के समय से जयपुर की लघुचित्र शैली में मुगल प्रभाव दिन पर दिन क्षीणतर होता गया और शुद्ध राजपूत शैली का विकास जोर पकड़ने लगा।

सन् १७६७ में माधो सिंह के बड़े पुत्र महाराजा पृथ्वी सिंह गद्दी पर बैठे और १७७९ तक राजकार्य में संलग्न रहे। उनके दरबारी चित्रकार हीरानन्द और त्रिलोक ने सन् १७७८ में महाराजा का आदमकद पोर्ट्रेट बनाया। यह कलाकृति उन कलाकारों की दक्षता की प्रतीक है।

सन् १७७९ में पृथ्वी सिंह जी के आकस्मिक घोड़े से गिरकर स्वर्गवासी हो जाने के कारण उनके छोटे भाई महाराजा सवाई प्रताप सिंह (१७७९–१८०३) गद्दी पर बैठे। नये महाराजा का राज्य काल शान्तिपूर्ण न रहा। सवाई प्रताप सिंह जी भी साहित्य कला तथा भवन-निर्माण के बड़े प्रेमी थे। जगत प्रसिद्ध 'हवा-महल' का निर्माण इसी समय हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने कलात्मक रीति से सजे दरवाजों सहित 'प्रीतम निवास' बनवाया, 'चन्द्र महल' में पांच मंजिलें और बढ़वाईं तथा दीवाने आम का निर्माण करवाया। जय निवास बाग को गोविन्ददेव जी के मन्दिर के रूप में बदल दिया गया और 'माधो निवास' के पिछले भाग में दीवारों पर कई उत्कृष्ट चित्रों का चित्रण करवाया गया। प्रताप सिंह एक अच्छे कवि भी थे। उन्होंने इक्कीस पुस्तकें लिखीं और 'बृजनिधि' उपनाम से कृष्ण जी की प्रशंसा में अनेकों कविताओं की रचना की। उनके समय में राजकीय पोथीखाने में बहुत सी पुस्तकों तथा पांडुलिपियों का संग्रह किया गया।

महाराज प्रताप सिंह के काल में चित्रकला ने एक नये युग में प्रवेश किया। उनके दरबार में लगभग पचास कुशल चित्रकार थे। उन्होंने पोर्ट्रेट चित्रण के अतिरिक्त राग माला की पूर्ण शृंखला, दुर्गापाठ, भागवत् आदि पर उत्तम चित्र बनवाये। साहिब राम नामक चित्रकार अब भी कला सेवा में रत था और उसने इस समय तीन अद्वितीय कलाकृतियों का सृजन किया। इनमें से दो महाराजा के पोर्ट्रेट हैं तथा एक चित्रण राधाकृष्ण के नृत्य का है। साहिब राम के अलावा जिन कलाकारों के नाम उल्लेनीय हैं वे हैं जीवन, घासी, सालिगराम, रघुनाथ, रामसेवक, गोपाल, उदय, हुक्मा, चिमना, राजू, दयाराम, निरंजन आदि। इन्होंने भित्ति चित्रण तथा लघु चित्र निर्माण दोनों कार्य किये।

विदेशी प्रभाव के प्रवेश के साथ ही जयपुर शैली में चित्रण की प्राचीन पद्धति में ह्रास के लक्षण प्रकट हुए। महाराज जगतसिंह के समय में प्राचीन कला सुप्तावस्था की ओर जाने लगी। यद्यपि साहिब राम जैसे अन्य कलाकार परम्परा को बनाये रखने में प्रयत्नशील थे, परन्तु नये कलाकार अपने को विदेशी प्रभाव से न बचा सके। इसका एक कारण यह भी था कि अब उनके संरक्षकों का दृष्टिकोण भी बदल रहा था। भारतीय कला का एक महत्वपूर्ण युग अब समाप्त प्राय: था।

प्राचीन पद्धति का यह ह्रास महाराजा जयसिंह द्वितीय और महाराजा रामसिंह के समय में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। रामसिंह जी जब

बालिग हुए तो उन्होंने देखा कि उनके दरबारी कलाकार यथार्थवादी शैली में चित्रण कर रहे थे जो परम्परा से नितान्त पृथक थी। वे फोटुग्रों की ग्रनुकृतियाँ तक बनाने लगे थे। या फिर फोटोग्राफिक ढंग से पोर्ट्रेट चित्रित करने लगे थे। महाराजा ने कलाकारों की इस प्रवृति को देखकर कला के विकास के लिए 'महाराजा स्कूल ग्रॉफ ग्रार्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स' की स्थापना की। महाराजा के ग्रादेश से नगर के भवनों को गुलाबी ग्रावरण दिया गया ग्रौर तभी से जयपुर को 'गुलाबी नगर' की संज्ञा दी जाने लगी। जहां तक चित्रकला का सम्बन्ध है लगभग १६०० तक सारे राजस्थान में प्राचीन पद्धति से काम होना समाप्त हो गया क्योंकि विदेशियों द्वारा ईचिंग, लिथोप्रिन्ट ग्रादि से पूर्ण परिचित हो जाने से लघु चित्रण का कार्य विस्मृत सा होने लगा था।

महाराजा सवाई प्रताप सिंह के समय में दरबारी कलाकारों ने महाभारत, रामायण, कृष्णलीला, दुर्गापाठ ग्रादि की पाण्डुलिपियों पर क्रमबद्ध चित्र श्रृंखला तैयार की ग्रौर प्रत्येक पांण्डुलिपि को सैकड़ों सुन्दर चित्रों से सज्जित किया। उक्त चित्रों में कलाकारों के नाम ग्रंकित पाये गये हैं। कलाकारों ने रागमाला के सम्पूर्ण सैट भी तैयार किये ग्रौर 'गीत गोविन्द' काव्य की तो ग्रनेकों प्रतियों को सचित्र बनाया। लाला ग्रौर रामायण ग्रादि कलाकारों ने शिकार सम्बन्धी चित्र ग्रत्यन्त सफलतापूर्वक बनाये।

जयपुर शैली में निर्मित हजारों पोर्ट्रेट या व्यक्तिचित्र ग्राज भी उपलब्ध हैं। ये व्यक्तिचित्र महाराजाग्रों के शासनाध्यक्षों तथा जागीरदारों के हैं। कहीं वे बैठे हैं तो कहीं खड़े हुए हैं। कहीं महफिल का ग्रानन्द ले रहे हैं तो कहीं उनकी सवारी निकल रही है। वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' ग्रादि कृतियों पर ग्राधारित ग्रनेक कामोत्तेजक विषयों को प्रतिपादित करने वाले चित्र जो इसी काल में बने, हमें देखने को मिलते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि जयपुर के कलाकार बड़े बड़े कैनवास पर ग्रादमकद पोर्ट्रेट बनाने में ग्रत्यन्त दक्ष थे। यह पोर्ट्रेट लघुचित्र पद्धति द्वारा बड़ी कुशलता से तैयार किये गये हैं। इनके उत्कृष्ट नमूने ग्राज भी 'महाराजा जयपुर संग्रहालय' में सुरक्षित हैं। इन चित्रों में युद्ध, पशु पक्षी एवं फूलों का चित्रण बड़ी कुशलता से किया गया है।

जयपुर शैली के कलाकारों ने चित्रों के हाशिये बनाने में गहरे लाल रंग का उपयोग किया है। यह लाल रंग काफी चमकदार है। सफेद, लाल, नीला, पीला तथा हरा रंग उक्त कलाकारों को विशेष प्रिय था। क्योंकि चित्रों को एक चिकनी सतह पर उलट कर रक्खा जाता था, ग्रतः ग्रधिकांश चित्र पर्याप्त चमकदार हैं। उन्हें चिकने पत्थर से रगड़ा भी जाता था। चांदी के रंग का उपयोग जल दिग्दर्शन कराने तक ही सीमित था। सामान्यतः वह जस्ते को तरजीह देते थे। भव्यता प्रदर्शन तथा सजावट के कामों में उन्होंने सुनहरे रंगों का प्रयोग किया है।

इस शैली के चित्रों में पुरुष तथा महिला पात्रों के कद अनुपातिक हैं। न बहुत लम्बे न बहुत छोटे। पुरुष पात्रों के नेत्र बड़े दिखाये गये हैं और वह काफी सुस्त दिखाई देते हैं। किसी का चेहरा साफ है तो किसी का गहरे रंग का है। किसी के चेहरे पर चोट के चिन्ह हैं तो किसी के चेहरे पर चेचक के निशान। पुरुष पात्रों के मूंछे हैं और उनकी केशराशि लम्बी दिखाई गई है। इन चित्रों के अधिकांश पात्र दाढ़ी विहीन हैं।

नारी पात्रों का स्वास्थ्य उत्तम, आंखे बड़ी-बड़ी और केश राशि लम्बी बनाई गयी है। उन्हें विभिन्न मुद्राओं में चित्रित किया गया है। उनका चेहरा अंडाकार, भवें किंचित उठी हुई, सुडौल नाक तथा कोपलों जैसे अधर दिखाये गये हैं। कहीं उनकी लम्बी केशराशि को खुला दिखाया गया है तो कहीं वे जूड़ा बांधे हुए भी दिखती हैं। कलात्मक मेंहदी से रचे हाथ और पांवों के अतिरिक्त माथे पर बिन्दी अथवा चन्दन लेप के अंकन की प्रथा भी थी।

कछवाहा जाति के पुरुष सामान्य रूप से तलवार लिये दिखाये गये हैं जो या तो सीधी होती है या मुड़ी हुई। कदाचित ही कभी कोई व्यक्ति ढ़ाल लिये दिखाया गया हो। परन्तु जलूस में, दृश्यों में निश्चय ही बहुत से व्यक्ति लाल रंग के आवरण से .ढंकी बन्दूकें लिये दिखाये गये हैं। कहीं कहीं वे तीर कमान लिये हुए भी हैं। उनकी कमर में कटार बंधी रहती है तो कभी पेशकब्ज। स्वयं जयसिंह प्रथम को यदा कदा 'आसा' लिये चित्रित किया गया है। प्रार्थना के समय पुरुषों और स्त्रियों को 'कुबड़ी' का सहारा लिये दिखाया गया है। नारी पात्र आखेट के समय के अतिरिक्त हथियार रहित ही अंकित किये गये हैं।

जहां तक आभूषणों का सम्बन्ध है पुरुष को विवाह के समय तुर्रा और कलंगी लगा सेहरा, कानों में लोंग, बाली या बुर्दा पहने दिखाया गया है। गले में माला या कंठी, हाथ और बांह में कड़ा और भुजबन्द तथा पैरों में भी कड़े पहनने वाले ये नायक अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते हैं। नारी पात्रों को अधिक आकर्षक दिखलाने हेतु उन्हें रत्न जड़ित या मीनाकारी के आभूषणों से युक्त बताया गया है। अन्य राजस्थानी शैलियों की भांति इस शैली के चित्रों में भी नारियां टीका, टोटी, बाली, हार, हंसली, सतलड़ी, टेवटा कंठा, मेजबन्द, बाजूबन्द, चूड़ी, पायजेब आदि आभूषण पहने हुए हैं जिनसे उनके सौन्दर्यांकन में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। आभूषणों के अतिरिक्त नारियों की रूप सज्जा भी उनको और अधिक आकर्षक बनाने में सहायक हुई है।

सवाई राम सिंह के समय में वेष भूषा पर अंग्रेजी प्रभाव प्रारम्भ हो गया था। उससे पूर्व पुरुष पात्रों की वेष भूषा लगभग एक सी रही। समय समय पर केवल पगड़ी बांधने के ढंग में ही अन्तर आया। सुसम्पन्न व्यक्ति

पगड़ी, कुर्ता, जामा, चोगा, अंगरखी, पायजामा, जूता, कमरबन्द और पटका इत्यादि से युक्त दिखाये गये हैं। नारी पात्रों के वस्त्रांकन में चोली, कुर्ती, दुपट्टा, लहंगा, बेसर, तिलक और जूतियों का समावेश बहुलता से हुआ है। १८५० तक पात्रों का पहनावा लगभग एक सा रहा। उसके बाद महाराजा को विभिन्न सम्मान चिन्हों सहित फौजी वस्त्रों में दिखाया गया है। कभी कभी वे मखमल या ऊन की बनी घुड़सवारी की विशिष्ट पोशाक, कढ़े हुए मौजे तथा शेरवानी आदि पहने हुए भी दिखाये गये हैं।

जयपुर के कलाकार उद्यान चित्रण में अत्यन्त दक्ष थे। उन्होंने उद्यानों में तरह तरह के पेड़, पक्षियों तथा बन्दरों को बड़ी बारीकी के साथ चित्रित किया।

कागज पर और दीवारों पर इस शैली के चित्रकारों ने फूलों का अच्छा अध्ययन प्रदर्शित किया है। कदम्ब के वृक्ष, लताएं और छोटे छोटे पौधे इतनी स्वाभाविकता से अंकित किये गये हैं कि वास्तविक से प्रतीत होते हैं। दृश्य चित्रण भी इन कलाकारों ने बहुत सीधा सादा किया है। कुछ साधारण वक्र रेखाओं तथा हरे रंग से यत्र-तत्र छोटी छोटी झाड़ियाँ और घास आदि भी दिखाया गया है।

जयपुर शैली के कलाकारों ने शेर, चीता, हाथी, भेड़, बकरी, कुत्ता-बिल्ली, बन्दर, ऊंट, घोड़ा, गाय, भैंस, बैल, सांभर, चिकारा, रीछ, गिलहरी आदि पशुओं का अत्यन्त सफलतापूर्वक स्वाभाविक चित्रण किया है। तोतों तथा अन्य छोटे पक्षियों को भी वे भली भाँति चित्रित कर सके हैं। मोर, बत्तख, कौवा आदि पक्षी बनाने का भी उन्हें बड़ा शौक था। साधारणतः ये पशु-पक्षी इस शैली के लघुचित्रों में सम्मिलित रूप से ही दिखाये गये हैं। लेकिन कहीं-कही उन्हें अकेला भी चित्रित किया गया है। यह बात सवाई प्रताप सिंह जी के समय में बने चित्रों में अधिक मुखर है।

जयपुर शैली को बहुत लम्बे काल से एक स्वतन्त्र चित्र शैली माना जाता रहा है। इस शैली के चित्रों को अन्य शैली के चित्रों के मध्य हम सरलता से पहचान सकते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, आरम्भ में इस शैली पर मुगल शैली का पर्याप्त प्रभाव रहा किन्तु विकास क्रम में वह एक स्वतन्त्र शैली के रूप में सामने आई। उक्त चित्रों की तकनीक, संयोजन रंग विधान, आकृतियों और वेष भूषा आदि को देखते ही प्रतीत होने लगता है कि अमुक चित्र जयपुर शैली का है। इस शैली का प्रभाव अलवर, भरतपुर, करौली, धोलपुर, टोंक और उनियारा राज्यों की शैलियों के चित्रों पर भी परिलक्षित होता है। □

अलवर शैली

श्री मोहन लाल गुप्ता

राजस्थान की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा में अलवर क्षेत्र का भी पर्याप्त योगदान रहा है। अलवर की पहाड़ियों के मध्य प्रकृति की ममता-मयी गोद में चित्रकला की जिस शैली ने जन्म लिया राजस्थान की उस लघु चित्र शैली को अलवर शैली के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। कलाकारों की साधना तथा कला प्रेमी राजाओं के संरक्षण से यह शैली पल्लवित और पुष्पित होकर राजस्थान की अन्य शैलियों के मध्य अपना स्थायी स्थान बना सकने में समर्थ हुई।

अलवर शैली का प्रारम्भ सं० १७७५ में माना जाता है। जब राजा प्रतापसिंह ने अलवर राज्य की स्थापना की, उस समय दिल्ली साम्राज्य का पतन हो रहा था। वहां के कलाकारों तथा कारीगरों ने स्वयं को नितान्त आश्रयहीन पाया। वे जीविका की खोज में अपना सामान लेकर तितर-बितर होने लगे। अलवर राज्य दिल्ली के निकट था। अतः वहां के राजाओं ने दिल्ली की वस्तुओं को खरीदकर अपने यहां संग्रहीत कर लिया। उन्होंने बहुत से कलाकारों को भी अपने यहां आश्रय दिया।

राजा प्रतापसिंह के उत्तराधिकारी बख्तावरसिंह का अधिकांश समय राज्य की नींव दृढ़ करने तथा उसकी उन्नति में व्यतीत हुआ। इसलिये वह कला पक्ष की ओर अधिक ध्यान न दे सके। फिर भी, थोड़ा बहुत काम उनके समय में अवश्य हुआ। कला की जो भी आंशिक उन्नति हुई, डालचन्द, बलदेव और सालिगराम जैसे तत्कालीन कलाकारों का काम उसका प्रमाण है। डालचन्द राजा प्रतापसिंह के समय में था तथा

बलदेव और सालिगराम बख्तावरसिंह के समय में ख्याति प्राप्त कलाकार हुए । डालचन्द राजपूत शैली में काम करते थे तथा बलदेव मुगल शैली में ।

महाराज बख्तावरसिंह के मरने के बाद उनके भतीजे विनयसिंह को उत्तराधिकारी घोषित किया गया परन्तु महाराज के खवासबाल पुत्र बलवन्तसिंह ने इसका विरोध किया । फलस्वरूप महाराज विनयसिंह ने अलवर के उत्तर-पश्चिम में तिजारा की जागीर उनको दे दी ।

महाराज विनयसिंह अलवर के राजाओं में सबसे अधिक कला प्रेमी थे । उनका राज्यकाल सुख-शान्ति से व्यतीत हुआ जिसके परिणामस्वरूप उनके समय में कला ने आशातीत उन्नति की । विनयसिंह जी कलाकारों के गुणग्राहक थे । उनके दरबार में अनेक कुशल चित्रकार और सुलेखक मौजूद थे ।

महाराज के समय में आगा मिर्जा सुलेखक थे तथा नत्था खां दरवेज और अब्दुल रहमान कारी नक्काशी के काम में बड़े कुशल थे । गुलाम अली चित्रकार दिल्ली से आकर महाराज के पास रहा था और वह मुगल शैली में सुन्दर काम करता था । हिन्दू चित्रकारों में बलदेव, गंगा बिशन और किशन के नाम उल्लेखनीय हैं । महाराज स्वयं चित्रकारी का शौक रखते थे । चित्रकार बलदेव उनके कला-गुरु थे और उन्हें दरबार में बैठक दी जाती थी तथा उनको बड़े-बड़े रईसों और सरदारों के बराबर ही सम्मान दिया जाता था । विनयसिंह जी चित्रकारों का इतना मान करते थे कि उनके दरबारी चित्रकार अन्य राजाओं के प्रलोभन देने पर भी उनके यहां जाने को तैयार नहीं होते थे । कहा जाता है कि यदि कोई कलाकार रूठ जाता था तो स्वयं महाराज जाकर उसको मना कर वापस लाते थे ।

महाराज विनयसिंह ने अपने कलानुराग के कारण और अपने क्षेत्र के कलाकारों का नाम अमर बनाने के उद्देश्य से महात्मा शेखसादी की 'गुलिस्तां' की प्रतिलिपि अपने निरीक्षण में चित्रांकित करवाई । इस ग्रन्थ में चित्रकारी गुलाम अली और बलदेव द्वारा की गई है जो भारत-फारस (Indo-Persian) शैली का प्रतिनिधित्व करती है । इस पुस्तक को तैयार करवाने में उस पुराने समय में ही एक लाख रुपया व्यय हुआ था । इसी प्रकार महाराज ने कई अन्य ग्रन्थों को भी सचित्र करवाया था ।

तिजारा के महाराज बलवन्तसिंह भी कला के अनन्य प्रेमी थे । उनके दरबार में भी अनेक कुशल चित्रकार रहते थे । उनमें शालिगराम प्रमुख थे जिन्हें विनयसिंह जी ने बलवन्तसिंह जी को दे दिया था । अन्य उल्लेखनीय कलाकारों के नाम हैं : वालेशराम, जमनादास, छोटालाल, बकसराम और नन्दराम । बलवन्तसिंह जी ने उक्त कलाकारों द्वारा 'चन्डी पाठ'

पांडुलिपि को सचित्र करवाया। बलवन्तसिंह जी के कोई सन्तान न थी। अतः उनके मर जाने के बाद तिजारा और वहां की समस्त सम्पति दुबारा विनयसिंह जी के अधिकार में आ गई।

विनयसिंह जी के बाद पदासीन हुए महाराज शिवदानसिंह भी बड़ी कलात्मक रुचि और उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। चित्रकला उनके समय में बहुत अधिक उन्नति करती परन्तु उन्हीं दिनों भारत में फोटोग्राफी और पाश्चात्य कला का पदार्पण हो गया था अतः उसमें एक अवरोध सा आ गया। पाश्चात्य कला का प्राचीन शैली पर प्रभुत्व जमते ही चित्रों में छाया-प्रकाश, दृष्टिक्रम तथा शारीरिक मापदंड आदि के सिद्धांत प्रयोग में आने लगे और चित्रों की भाव भव्यता, रगों की प्रखरता, रेखाओं का चमत्कार जैसी पुरानी विशेषताएं लुप्त होने लगीं। वसली की यह सुघड़ता और चमक तथा हाशियों की जगमगाहट अंग्रेजी कागज पर आलेखित फीके अंग्रेजी रंगों में बदल गई। आकृति चित्रों का स्थान फोटो ने ले लिया। फोटोग्राफी के आगमन से पूर्व एकचश्म चेहरे ही बनते थे। चित्रकारों को दो चश्म आकृतियां बनाने का अभ्यास नहीं था। फोटोग्राफी के ज्ञान से हर प्रकार के रुख बनने लगे और ऐसे चित्र जनप्रिय भी हो गये। लम्बे कल्पित नेत्रों और नासिका के स्थान पर दोनों चीजों में वास्तविकता का प्रदर्शन होने लगा। उस काल के जो आकृति-चित्र मिलते हैं उनमें प्राचीन नियमों के साथ आधुनिकता के मिश्रण से पर्याप्त सजीवता आ गई है। यद्यपि महाराज शिवदानसिंह के समय में पाश्चात्य शैली ने भारत में अपना काफी अधिकार जमा लिया था परन्तु फिर भी परम्परावादी कलाकारों के लिये प्राचीन रूढ़ि को त्यागना इतना सरल नहीं था। चित्रकारों के तूलिका प्रयोग और भावों में प्राचीनता की झलक दृष्टिगोचर होती रही। शिवदानसिंह के समय में मंगलसेन नानगराम और बुद्धाराम आदि अन्य चित्रकार भी काम करते थे।

शिवदानसिंह के उत्तराधिकारी महाराज मंगलसिंह फौजी रुचि वाले व्यक्ति थे। उनको कला से विशेष रुचि न थी। उनके समय में बुद्धाराम, मूलचन्द्र, नानगराम, उदयराम, जगन्नाथ, रामगोपाल, बिशन लाल, रामगोपाल (द्वि) आदि चित्रकारों के नाम इस कड़ी में उल्लेखनीय हैं। अलवर रियासत में स्थित राजगढ़ शीशमहल में बने हुए सुन्दर भित्ति चित्र बुद्धाराम के ही निरीक्षण में बने थे। बुद्धाराम जानवरों के चित्र बनाने में सिद्धहस्त थे। मूलचन्द्र मुगल शैली में काम करते थे। रामगोपाल दिल्ली से आये थे और आकृति चित्रण में कुशल थे। अन्य कलाकार आधुनिक और प्राचीन ढंग का काम करते थे। चूंकि मंगलसिंह जी को शिकार आदि का शौक था इसलिये उनके समय में शिकार सम्बन्धी चित्र पर्याप्त मात्रा में बने।

मंगलसिंह के पश्चात् महाराज जयसिंह एक प्रतिभाशाली राजा हुए।

उनको कला, साहित्य और राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र में रुचि थी। उन्हें चित्रकारी का भी शौक था और वह चित्रकारों की त्रुटियों को स्वयं अपने हाथ से ठीक कर दिया करते थे। उनके समय में चित्रकारों में रामसहाय, उदयराम, रामगोपाल, कन्हैयालाल, रामप्रसाद, मूलचन्द्र, विष्णु प्रसाद, चिरंजीलाल, छाजूराम, जयमोहन और ओंकारनाथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछेक महाराज के दरबारी चित्रकार भी थे।

अलवर शैली मूलत: जयपुर और दिल्ली शैलियों के मिश्रण से बनी। इन दोनों शैलियों की छाप अलवर शैली पर साफ साफ देखने को मिलती है। अलवर शैलो के चित्र देखने से ज्ञात होता है कि यह शैली अधिक प्राचीन नहीं है और केवल नरूका राज्य स्थापित होने पर ही उत्थान में आई। वैसे यह राज्य बहुत पहले स्थापित हो गया था परन्तु चित्रों में इसकी प्राचीनता के चिन्ह प्राप्त नहीं होते। हां, यहां की कतिपय मूर्त्तियों में प्राचीन युग की झलक अवश्य देखने को मिल जाती है।

यह इतिहास सम्मत तथ्य है कि अकबर से अलग होने के बाद बैरम खां ने अलवर राज्य में आकर शरण लो थी। मेवात की पर्वत श्रेणियां मुगल राज्य के असन्तुष्ट सरदारों का आश्रय स्थान रही थीं। उन्हीं मुगलों के सम्पर्क में आकर यहां के कलाकारों ने भारत-फारस (Indo-Persian) शैली को अपनाया और यही कारण है कि अलवर शैली मुगल शैली की प्रतिच्छाया सी जान पड़ती है।

मत्स्य का राजावत प्रान्त जयपुर के राजा भगवानदास के उत्तराधिकारियों के पास था। महाराजा प्रतापसिंह ने राजावत प्रान्त अपने अधिकार में कर लिया। इस ऐतिहासिक तथ्य द्वारा यह धारणा बनाई जा सकती है कि अलवर के चित्रों पर जयपुर शैली का प्रभाव अवश्य रूप से पड़ा। कभी-कभी जयपुर और अलवर शैली के चित्रों को पहिचानना तक कठिन हो जाता है। मुगल शैली का प्रभाव होने के कारण अलवर की कलम साफ सुथरी और बारीक होती है। अलंकरण का काम भी स्थान-स्थान पर खूब किया होता है। वृक्षों के पत्तों को छाया-प्रकाश द्वारा भली प्रकार खोला जाता है। यहां दरबारी नक्काशों के होने के कारण चित्रों के हाशिये खूब अलकारिक होते हैं जिनमें नाना प्रकार के बेल-बूटों की छटा देखने को मिलती है।

अलवर शैली के चित्रों में प्रतिपादित विषयों में राधा-कृष्ण के दर्शनीय चित्र, वेश्याओं के चित्र तथा अंग्रेजी शैली से प्रभावित लोक जीवन सन्बन्धी चित्र हैं। राजाओं को उन दिनों वेश्याओं का नाच गाना सुनने का अधिक शौक था। उन दिनों वेश्याओं के कोठे ही संस्कृति के केन्द्र भी थे क्योंकि वहां राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक और कलात्मक विषयों पर

विचार विमर्श भी होता था। उस काल में जयपुर में भी यही परम्परा थी। महाराज शिवदान सिंह के समय में कलाकारों का एक तरह से मुख्य उद्यम ही गणिकाओं को तरह-तरह से बिठला कर उनके चित्र बनाना था। राजा लोग ऐसे चित्रों का संग्रह करते थे। मंगल सिंह जी के समय में शिकार सम्बन्धी कुछ चित्र बने। राजओं के कतिपय 'शबीह' भी बनाये गये तथा साहित्य और राजनीतिक क्षेत्र के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र भी तब चित्रित किये गये।

अलवर शैली के लघुचित्रों में हरे और नीले रंग का अधिकता से प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह था कि उस समय यह दोनों रंग बाहर के देशों से बन कर आने लग गये थे और चित्रकारों को उनका उपयोग करने में सुविधा प्रतीत होती थी। उन्हें रंग पीसने और तैयार करने का श्रम नहीं उठाना पड़ता था। इन विदेशी रंगों में वह चमक-दमक नहीं थी जो प्राचीन भारतीय पद्धति से तैयार किये गये रंगों में होती थी। चित्रों के हाशिये बनाने में प्रायः नीले और पीले रंगों का प्रयोग किया जाता था। अलवर शैली के चित्रों में जो विशेषता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है वह यह है कि यहां के चित्रों की वसलियां बड़ी सुन्दर बनती थीं। कलाकारगण उन्हें बनाने में पर्याप्त परिश्रम करते थे। इन वसलियों को देखने से पता चलता है कि उनके निर्माण में मुगल शैली का काफी अनुसरण किया गया है। जिस प्रकार अलवर शैली की वसलियां प्रसिद्ध थीं उसी प्रकार यहां चमड़े की सुन्दर जिल्दें भी बनती थीं। अलवर शैली के चित्रों में सोने के रंग का भी बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं पर रंग-विधान में मथुरा शैली का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है।

अलवर शैली के प्राचीन चित्रों में पुरुष एवं महिला आकृतियों में आँखें मछली जैसी गोल और होंठ पतले-पतले तथा पान की पीक से रचे हुए दिखाये गये हैं। इस शैली में अंकित मुखाकृतियां मुगल शैली की मुखाकृतियों के बहुत समीप दिखलाई देती हैं तथापि इन्हें सहज ही पृथक रूप से भी पहचाना जा सकता है। चित्रों में चिबुक भरी हुई, भवें कमान की तरह तनी हुई और मुख प्रायः गोल होता है। स्त्रियों की चोटी ऊपर उठकर नीचे लटकती हुई और लम्बी दिखाई जाती है। तत्कालीन वेश्याओं की भांति नायिकाएं नाक में बड़ी सी नथ और कानों में बड़ी-बड़ी बालियां पहने दिखाई जाती हैं। पैर में बहुत सी पायजेबें होती हैं। तात्पर्य यह है कि इस शैली के लघुचित्रों में स्त्रियों को अधिक से अधिक आभूषण पहने चित्रित किया गया है।

जहां तक वेष-भूषा का सम्बन्ध है स्त्रियों को अधिकतर पैजामा, कुर्ता और चोली पहने बताया गया है। राधाकृष्ण के चित्रण में नारी पात्र लहंगा, चुनरी और कंचुकी पहने हुए हैं। पुरुषों को गले में रुमाल डाले कमर तक अंगरखी और जयपुर जैसी पगड़ी पहने दिखलाया गया है। वे

कंधे तक पट्टे रखते थे। लोक जीवन के चित्रों में उन्हें कहीं टोपी और कहीं साफा पहने हुए बताया गया है। किसान तथा साधारण कोटि के व्यक्ति धोती और कन्धे पर अंगोछा रक्खे हुए दिखाए हैं।

प्रकृति चित्रण में अलवर के लघुचित्रों में प्रायः जयपुर शैली की पद्धति अपनाई गई है। जयपुर शैली के चित्रों में जिस प्रकार अभिप्राय चित्रित किये जाते थे वैसे ही अलवर शैली में भी किये गये। वृक्षों के पत्तों को छाया और प्रकाश द्वारा भली प्रकार खोला जाता है। अलवर के चित्रों में कहीं कहीं भवन-निर्माण शैली में कुछ विशेषता दिखलाई देती है। इस दिशा में लखनऊ की मुगल शैली का प्रभाव भी इन चित्रों पर परिलक्षित है।

यद्यपि अलवर शैली का स्रोत मुख्यतः जयपुर ही था, परन्तु उसमें मथुरा शैली का प्रभाव आ जाने, दिल्ली निकट होने और वहां के कलाकारों के आ जाने तथा मुगल शैली के प्रभाव का मिश्रण हो जाने की वजह से इस शैली ने अपना पृथक अस्तित्व बना लिया। राजस्थान की विभिन्न शैलियों के मध्य अपनी कतिपय कमनीय विशेषताओं के कारण अलवर शैली के लघुचित्र सहज ही पहचाने जा सकते हैं। □

नाथद्वारा शैली

श्री गोवर्धन लालजोशी

वीर वसुन्धरा मेवाड़ की राजधानी उदयपुर से तीस मील दूर उत्तर दिशा में घने पहाड़ों के मध्य कला एवं संस्कृति का केन्द्र नाथद्वारा स्थित है। इस कस्बे के नाम से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें प्रमुख आकर्षण के केन्द्र-बिन्दु श्री श्रीनाथजी हैं। इनके भक्त आज भारत में ही नहीं वरन् विदेशों तक में फैले हुए हैं। यहां वर्षपर्यन्त हर समय हजारों यात्री दर्शनार्थ आते रहते हैं। किन्तु अन्नकूट और कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर विशेष रूप से भक्त लोग उपस्थित होते हैं। यहां की मीनाकला, प्रसाद, इत्र, कपड़े की छपाई, चन्दन का काम सबको पसन्द आता है। अपने आराध्य देव के दर्शन करने और यात्रा की स्मृति को चिरस्थायी रखने हेतु वे श्रीनाथजी के चित्र एवं अन्य तस्वीरें खरीद कर ले जाते हैं।

दिल्ली के धर्मांध शासक औरंगजेब की कट्टर भावना के कारण हमारी भोली जनता पर ही नहीं, बल्कि पूज्य प्रतिमाओं पर भी संकट आया। उसने अनेक प्रतिमाओं को खण्डित किया। इस अत्याचार से रक्षार्थ एवं खण्डित किये जाने के भय से त्रस्त हो तत्कालीन महाराजश्री गोपीनाथ जी ने उदयपुर के महाराणा से मेवाड़ में निवास की अनुमति चाही। मेवाड़ महाराणा ने अजियोचित आन रखते हुए स्वीकृति दी और साथ-साथ उन्हें अपना धर्म-गुरु भी स्वीकार किया। श्रीनाथजी की प्रतिमा अपनी भक्त मंडली एवं सेवकों सहित अनेक रजवाड़ों से होती हुई मेवाड़ में लाई गई तथा कुछ स्थान बदलने पर स्थायी रूप से नाथद्वारा के वर्तमान मन्दिर में स्थापित की गई। ब्रजराज के साथ-साथ प्रस्थान करने वालों में कतिपय

भक्त चित्रकार भी थे जो यहां पहुँचने पर अपनी कला साधना में तत्परता से जुट गये। समय एवं परिस्थिति के प्रभाव से यहां की चित्र शैली दिन पर दिन पूर्णता की ओर अग्रसर होती रही। यहां की चित्रकला ने दर्शकों को ही नहीं वरन् आस पास के चितेरों तक को आकर्षित किया। जयपुर, जोधपुर एवं उदयपुर से जो लोग यहां पहुँचे उनमें जांगिड़ ब्राह्मण एवं गौड़ ब्राह्मण परिवार मुख्य थे। इन दोनों ने ही यहां की चित्रण विधि को पल्लवित एवं पुष्पित होने में अपना अभूतपूर्व योगदान किया।

नाथद्वारा जैसे छोटे कस्बे में चित्रकला इतने बड़े पैमाने पर पनपी और विकसति हुई इसमें श्री श्रीनाथजी के अतिरिक्त दो और मुख्य कारण रहे। प्रथम तो यह कि इस सम्प्रदाय में हाथ-कलम के चित्रों से हो सेवा पूजा का विधान रहा तथा दूसरा यह कि यहां के चितेरे परस्पर सहयोग एवं प्रतिस्पर्धा से काम करने की टेव लिये हुए थे। मन्दिर में 'धीली पाटिया' नामक स्थान पर संध्या समय भगवान के भोग के दर्शन से शयन की झांकी तक बैठकर यहाँ के चित्रकार अपने चित्र स्वयं ही बेचते रहे। इसके बजाय ये लोग दशहरे से दीपावली तक मन्दिर के मुख्य द्वारों डोडियां, पान घर, फूल घर, दूध घर, गेगा घर, खर्च भण्डार, कृष्ण भण्डार, सूरजपोल, नंगारखाने का दरवाजा आदि पर हाथी सजे घोड़े, झाड़ीदार सिंह, हाथ, बैल आदि भी चित्रित करते रहे हैं। कमल पुष्प और आस पास आसमानी रंग से चिम्मन का काम भी ये लोग करते हैं। कमल चौक मन्दिर का मुख्य भाग है वहां पर भक्तजन दर्शन के पूर्व बैठते हैं, वहां सबसे उच्चकोटि का काम किया जाता है। अपनी कार्य कुशलता के प्रदर्शन की दृष्टि से आदमकद घोड़े, पनिहारिन व आरती उतारती वधु का चित्रण भी द्वार के दोनों ओर किया जाता है। जो व्यक्ति मन्दिर में चित्र नहीं बेचते वे भी सेवा का कार्य समझ भित्ति चित्र अंकित करते हैं। इस प्रकार लम्बे समय से सामूहिक काम करने का अवसर मिलते रहने के कारण अनेक होनहार युवकों को कलात्मक काम करने एवं सीखने का अवसर मिला।

शुद्धाद्वैत पुष्टि मार्ग का मूल उद्देश्य कृष्ण कन्हैया को रिझाना और उनका गुण गान करना ही रहा है। इसमें श्री श्रीनाथजी को श्री कृष्ण का प्रतीक मान करके ही पूजा की जाती है। मत की इस मूल भावना की पुष्टि के परिणामस्वरूप ही श्रीमद्‌भागवत् गीता आदि ग्रन्थों के अनुरूप विविध कृष्ण लीलाओं को चित्रों में अंकित करने की प्रथा यहां पर है। इनमें कृष्ण जन्म, ब्रज की बाल लीला, गोचारण, भोजन थाली, दैत्यों का संहार, दानलीला, मानलीला, कालीनाग एवं चीरहरण आदि विषयों के अनुरूप अधिक चित्रों का निर्माण हुआ।

छह राग, छत्तीस राग-रागनियों को दर्शाने वाले चित्र भी प्राचीनकाल में यहां पर उत्तम रीति से बनाये जाते थे। बारह मासों के चित्रों का अंकन भी यहां होता था।

पिछवाइयां

भगवान की प्रतिमा के पीछे की दीवार को सजाने के लिये कपड़े पर मन्दिर के आकार के अनुसार जो पर्दे बनाये जाते हैं उन्हें पिछवाइयां कहते हैं। पिछवाइयां नाथद्वारा चित्रशैली की मौलिक देन है। ऐसी पिछवाइयां किसी अन्य शैली या कलम में इस रूप में देखने को नहीं मिलती हैं। ये बीस पच्चीस फीट लम्बी, चौड़ी या इससे भी अधिक बड़ी बनती हैं। पिछवाइयां अधिकतर श्रीनाथजी के उत्सवों के महत्व को चित्रित करने या कृष्ण-लीला सम्बन्धी किसी भी विषय को लेकर तैयार की जाती हैं। बल्लभ सम्प्रदाय के छोटे बड़े सभी मन्दिरों में मुख्य उत्सवों के अनुरूप हाथ कलम की अधिकांश पिछवाइयां धारण कराई जाती हैं। आज समूचे भारत में नाथद्वारा के समान कहीं पर भी उत्तम, सस्ती एवं सुन्दर पिछवाइयां चित्रित नहीं हो रही हैं।

१७वीं शताब्दी से आज तक प्राकृतिक दृश्य-चित्रों का चित्रण यहां अबाध गति से होता चला आरहा है। यहां के दृश्य-चित्र उच्चकोटि के होते हैं और प्रसिद्ध भी। किन्तु आजकल सस्ते एवं सुन्दरता के लिये विख्यात हैं। यहां के चित्रकार रंग भरने हेतु अपने लिये विशेष प्रकार की तूलिकाएं तैयार करते हैं जिनसे पत्तियां एवं गुच्छे बनाना बहुत आसान रहता है। श्रम-विभाजन की दृष्टि से किनार व खत खींचने वाला केवल यही कार्य करता है तो प्राकृतिक दृश्यांकन वाला केवल उसी में व्यस्त रहता है। लीलाओं के चित्रों में मानव आकृतियां बनाने वाले चित्रकार अन्य होते हैं। इस प्रकार कम मूल्य और सहज निर्माण की दृष्टि से चित्रकार मशीन के अनुरूप कार्य करने लगे हैं। जब चित्रकार स्वयं अपने कार्य को बेचता था तब आत्म सन्तुष्टि के साथ-साथ उसका कार्य का स्तर बढ़ाने का लक्ष्य भी रहता था। पर इन दिनों अन्य व्यापारियों के हाथ में इस व्यवसाय के चले जाने से केवल अर्थोपार्जन ही एकमात्र लक्ष्य रह गया है। अतः कार्य का स्तर दिन पर दिन गिरता जा रहा है।

श्री श्रीनाथ जी के प्रधान-प्रधान पर्वों की झांकियों के चित्र अनेक आकारों में बनते हैं। पहले चित्र अधिकतर छोटे आकार के बनाए जाते थे। क्योंकि सुरक्षित रखने के साधन सुलभ नहीं थे, अतः इन्हें मिट्टी के बड़े बर्तनों आदि में रखकर चूहों से इनकी रक्षा की जाती थी। इनको नांद या गोली के नाम से पुकारते हैं। वैष्णव जनों की आस्था को अडिग बनाए रखने एवं उत्सुकता को पूर्ण करने हेतु एक मात्र श्री श्रीनाथ जी के चित्रों की असंख्य प्रतियां घर-घर पहुंचती हैं।

तीन गुणे पांच फीट के आकार में कपड़े पर श्री नाथजी के प्रतिमा के आकार के अनुरूप भी यहां के चित्रकार चित्र बनाते हैं। स्थानीय भाषा में इन्हें 'स्वरूप' नाम से पुकारा जाता है। पखियां, पान, बन्टा, लाकेट, दर्शन, चन्दन के घर, सेवा, पोस्टकार्ड, केबिनेट आदि आकारों में भी

श्री श्रीनाथजी के चित्र यहां बनते रहे हैं। आजकल मकानों को सजाने की दृष्टि से सात गुणे दस इंच, आठ गुणे बारह इंच, दस गुणे चौदह इंच, बीस गुणे अट्ठाइस इंच, तीस गुणे चालीस इंच आदि साइज के बड़े चित्रों का भी प्रचलन यहां है।

मन्दिर से प्रभावित अनेक परिवार शादी, जनेऊ आदि महत्व-पूर्ण अवसरों पर मकान के दरवाजे के भीतरी भाग पर हाथी, घोड़े, बैल, पुतली और अन्दर के भाग में श्री गणेश को चित्रित करने की प्रथा भी है। दीवार पर दूल्हा-दुल्हन बराती मण्डप के साथ-साथ सम्बन्धी को चक्की चलाते हुए और कहीं मूसले से मार खाते हुए दर्शाए जाते हैं। फ्रेस्को पेंटिंग्ज के कतिपय उदाहरण भी यहां के प्राचीन स्थानों पर मिलते हैं जो हमें इटली के भित्ति चित्रों का स्मरण कराते हैं। महुवा वाले अखोड़ा सुन्दर विलास के बाग के दरवाजे पर, मोती महल प्रवेश द्वार के अन्दर और गोवर्धन कुण्ड की तिबारी में ऐसे भित्ति चित्र उपलब्ध हैं।

नाथद्वारा शैली में सर्व प्रथम उपयुक्त सतह पर कोयले से रेखानुकृति अंकित कर सिंदूर अथवा लाल रंग की टिपाई कर यथास्थान सपाट करके, काले रंग से रंगाई की जाती है। रेखाई करने से प्रत्येक रंग की सत्ता पृथक हो जाती है और उभार व गहरा भाग पर्दाज लगाकर दर्शाते हैं। सुनहरी भाग को सोने के बरख, हल अथवा मृगान से स्पष्ट करते हैं। तत्पश्चात् सफेद का काम करके लाल और काले रंग का काम किया जाता है। लाल व काले के काम को 'साई-पोथी' का काम कहते हैं। चित्र हो या पिछवाईयां रंग लगाकर उनको चिकने पत्थर पर घोटकर उसका भुरभुरापन दूर किया जाता है। सोने के काम को चमकाने की दृष्टि से उसे आपनी से ओपते हैं। पिछवाई या कपड़े पर काम आरम्भ करने से पूर्व गेहूं, साबूदाना, अरारोट, रीलोई अथवा चावल के मांड का कलफ लगाते हैं। इससे कपड़े पर रंग अच्छी तरह से चिपकने लगता है। बड़े पर्दे में सरज रेखायें सूत छोड़ कर बनाते हैं। कागज की अपेक्षा कपड़े की घुटाई अधिक की जाती है और रंग भी अधिक पक्के काम में लाये जाते हैं।

हौस, हार, हथपान, कड़े, बंगड़ी, कर्णफूल, कुण्डल, दुगदुगी, कन्दोरा, कांटा, लोंग, बोर, भुजबन्द, अंगूठी, लंगर, तोड़ा, छड़ा, फोलरिया, कड़िया, टीपा, छुतरा, बंगडिया, रामनामी, गोप, डोरा, गुट्टियां, भेला, बाजूबन्द, आडदि, सोने और चांदी के गहनों का चित्रण यहां के प्राचीन एवं अर्वाचीन चित्रों में मिलता है।

पगड़ी, अंगरखी, धोती, उत्पन्ना, जूते, खड़ाऊ आदि कपड़े पुरुषों को मुख्य रूप से पहनाते हैं तो औरतों का साड़ी, काँचली, घाघरा, खासकर पहनावा है। किन्तु आजकल कतिपय चित्रकार राधा को
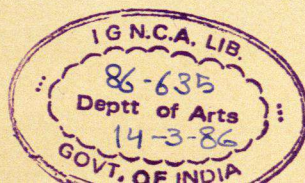
पोलका व उल्टे पल्ले की साड़ी पहनाते हैं जो देश काल एवं मर्यादा के विपरीत है।

बैल, तोता, मोर, बगुला, सारस, मछलियों आदि का चित्रण यहां के चित्रकार अधिक तादाद में करते रहे हैं। गुलाब एवं कमल पुष्पों के चित्रण का विधान भी विशेष रूप से मिलता है। पेड़ों में कदम्ब, आम, आसा मोलश्री के पेड़ अधिक संख्या में बनाए जाते हैं!

समूचे भारतवर्ष में लगभग पच्चीस हजार की आबादी वाला छोटा सा कस्बा नाथद्वारा ही ऐसा स्थान है जहां आज भी अनुमानतः दो सौ चितेरे चितराम के काम में लगे हैं। यहां पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियां और बालक भी अवकाश के क्षण निकाल कर सादे चित्र बनाते हैं।

तूलिका के मामले में यहां के चित्रकार सदा ही आत्मनिर्भर रहे हैं। अधिकांश गिलहरी एवं बकरी के बालों से कलमें तैयार करते हैं। मोटे काम के लिये सूअर एवं घोड़े की गर्दन के केशों का उपयोग कर बड़े आकार की तूलिकाएं बनाई जाती हैं। कबूतरों, चिड़ियों एवं जलजीवों के परों से परगजे तैयार कर बालों को जमा रेशमीन तागे से गांठ लगा कर बैठाया जाता है।

चित्रांकन के लिये इन कलाकारों द्वारा तूलिका, कपड़ा, रंग आदि मुख्य अनिवार्य साधन काम में लाये जाते हैं। सोने चांदी के बरकों का उपयोग भी ये लोग करते हैं। ओपनी, घाटा चिकना पत्थर, लकड़ी की पट्टी तथा बैठने का आसन आदि अन्य महत्वपूर्ण साधन हैं। इन सभी उपकरणों को एक ही पेटी में सजाकर रक्खा जाता है।

१७वीं शताब्दी में जब से श्री श्रीनाथ जी का आगमन यहां हुआ तभी से इस शैली की कला का स्तर उन्नत होता गया। तिलकायत श्री गोवर्धनलाल जी के समय में यहां की चित्रकला का विकास चरम सीमा पर था। तब से इनका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ है और चित्रकारों को उचित संरक्षण मिला है। यहां की चत्रकला के मूल पोषक वे हजारों यात्री व श्रीनाथ जी के भक्त हैं जौ हर समय यहां के बने चित्रों को खरीदते रहते हैं। कतिपय प्रकाशकों का ध्यान भी इस ओर गया है जिससे यहां के बने चित्र प्रकाशित होकर घर-घर पहुचे हैं।

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व श्री रामचन्द्र 'बाबा' जयपुर से नाथद्वारा आ बसे थे। उन्होंने यहां पर पेड़ की प्रचलित अंकन विधि में परिवर्तन प्रस्तुत किया। अन्य प्रसिद्धि प्राप्त चित्रकार हैं श्री राधाकृष्ण। इन्होंने अपनी सूझ से श्रीनाथ जी की प्रतिमा में रंग परिवर्तन किया। चित्रकार भगवान प्रथम हू बहू चित्रण में प्रसिद्ध हुए तो द्वितीय भगवान चने की दाल के बराबर गोलाकार या चावल पर हाथी की लड़ाई चित्रित करने में सिद्धहस्त थे। नारायण, चतुर्भुज, रामलिंग, उदयराम, देवकृष्ण

आदि प्रसिद्ध चित्रकारों के नामों का उल्लेख भी हम इसी शैली के अन्तर्गत कर सकते हैं।

मध्यावधि में विट्ठल और चम्पालाल बेजोड़ चित्रकार हुए। प्रथम के लिये कहा जाता है कि बाजार से गधे की पीठ पर लादकर वे खूब तादाद में कागज लाते और पालों में भर कर रंग बना सैंकड़ों चित्र एक साथ बनाते थे। पिछवाई चित्रण में खेमराज सिद्धहस्त थे।

श्री गोवर्धनलाल जी तिलकायतश्री के निर्देशानुसार अनेक कुशल चित्रकारों ने शुकदेव के अधीनस्थ सम्पूर्ण भागवत का श्लोकबद्ध चित्रण किया। इस अपूर्ण कार्य को घासीराम ने पूर्ण करवाया। चित्रकार रघुनाथ ने कला के क्षेत्र में नाम कमाने के साथ ही पैसा भी खूब कमाया। यहां फक्कड़ नामक एक चित्रकार भी हुए जो स्वभाव से भी फक्कड़ ही थे। इस ओर हरदेव एवं तुलसीराम का नाम लिये बिना भी नहीं रहा जा सकता। तुलसीराम ने चित्रकला के अभ्यास के साथ-साथ लकड़ी के पुर्जों से यहां के घंटाघर के लिये बड़ी घड़ी बनाई।

विक्रम संवत १९२९ के लगभग स्थानीय चित्रकला में चित्रकार घासीराम कार्य क्षेत्र में अवतरित हुए। इन्हीं की प्रेरणा एवं प्रयास के फलस्वरूप नाथद्वारा में तैल रंग के चित्रों को प्रोत्साहन मिला। फोटोग्राफी के उपयोग से चित्रकला शैली में इन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप लगाना आरम्भ किया। इनके अनेक चित्रों का प्रकाशन 'कल्याण' में हुआ। इनकी प्रत्येक रेखा में गति थी, जीवन था और एक अपूर्व शक्ति थी जो दर्शक को अपनी ओर तत्काल आकर्षित कर लेती थी। ये हल्के रंगों का प्रयोग अधिक प्रभावशाली ढंग से करते थे। ये स्वयं तो उच्चकोटि के चित्रकार थे ही पर दूसरों को सिखा कर अच्छा कारीगर बना देना भी इनकी क्षमता थी।

चित्रकार हीरालाल नाथद्वारा के चित्रकारों में प्राकृतिक दृश्यांकन के लिये प्रसिद्ध हैं। शीघ्रता से अंकन, प्रभावशाली तरीके से छाया-प्रकाश को दर्शाना मोहक रंगों का उपयोग करना इनका अपना गुण था। इनकी सधी हुई तूलिका से वैष्णव एवं जैन जगत से सम्बन्धित दो सौ से अधिक कृतियों का प्रकाशन हुआ। वे आज भी नाथद्वारा की चित्रकला की उन्नति में विशेष योग प्रदान कर रहे हैं।

कलाकार जगन्नाथ बहुत ही स्फूर्ति एवं चतुराई से काम करने वाले पुष्ट शरीर के पहलवान चित्रकार थे। मानव आकृतियों के चित्रण में वे अत्यधिक सिद्धहस्त थे।

वर्तमान चित्रकारों में नरोत्तम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये पानी एवं तैल दोनों प्रकार के रंगों के माध्यम से काम कर रहे हैं। यथार्थ-वादी शैली का काम ये विशेषकर करते हैं। घासीराम शैली में काम करने

वालों में देवीलाल, अम्बालाल, भूरालाल 'बाबू जी', प्रेमचन्द व दामोदर के नाम उल्लेख्य हैं। कला एवं व्यवसाय दोनों दृष्टियां से खूबोराम, गोपीलाल और इनको चित्रशाला में काम करने वाले कतिपय अन्य चित्रकारों ने काम के साथ ही अर्थोपार्जन भी किया है।

श्री नन्दलाल भी अच्छा काम करते रहे। लक्ष्मीलाल द्वय ने भी अल्पायु में ही अपनी कला से दर्शकों को प्रभावित किया। घासीराम के आत्मज प्रेम नरेन्द्र शर्मा प्रौढ़ कलाकारों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इनकी प्रत्येक रेखा सजीव व एवं सार्थक है। ये कम रेखाओं द्वारा अधिक से अधिक भाव दर्शाने में समर्थ हैं।

पिछवाई चित्रण में चिमनलाल विशेष रूप से लगे हुए हैं। प्राचीन कलम के चित्रों की हू बहू (अविकल प्रतिकृति) करने में युवा कलाकार घनश्याम को चित्र-साधना पूर्णता को ओर बढ़ रही है।

अच्छे स्तर का काम करने वाली महिलाओं में कमला एवं इलायची के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाथद्वारा शैली में अपभ्रंश-मेवाड़, मारवाड़ एवं जयपुर की शैलियों का संगम हुआ है और आगे चलकर इनका अस्तित्व गौण हो गया। नाथद्वारा शैली उन्नत होती रही। उसने अपना पृथक एवं विशिष्ट स्थान बनाया।

इस शैली में मानव मुखाकृतियों अन्य कलमों से भिन्न रूप में अंकित की जाती हैं। आंखें फड़कती मछली के अनुरूप, पर किशनगढ़ शैली की आंखों से कम वक्रता लिये हुए होती हैं। नाथद्वारा शैली के चित्रों में कपड़ों की सलवट साफ नजर आती हुई बनाई जाती है।

एक समय था जब छोटे कद की मानव आकृतियां इस कलम की मुख्य पहचान थी किन्तु आज के चित्रकार चित्रण में इस दोष से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील जान पड़ते हैं।

कलम की विषय वस्तु यहां की निजी है। दृश्यचित्रों में प्राचीन, पाश्चात्य एवं अर्वाचीन प्रभाव लक्षित होता है। किन्तु ये तीनों मिलकर नाथद्वारा कलम के दृश्यचित्रों की श्रीवृद्धि करने में सहायक हैं।

इस प्रकार नाथद्वारा की चित्रकला और चित्रकारों ने भारतीय चित्र परम्परा और स्थानीय विशेषताओं एवं मान्यताओं को ओझल नहीं होने दिया है। साथ ही नूतन मोड़ की पृष्ठभूमि में अपने जागरूक अस्तित्व का प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत किया है। नाथद्वारा को चित्रशैली आने वाले युग में भी असंख्य चित्रकारों के लिये प्रेरणादायी रहेगी। □

किशनगढ़ शैली

श्री प्रेमचन्द्र गोस्वामी

राजस्थान की लघुचित्र शैलियों में किशनगढ़ शैली एक मात्र ऐसी चित्र शैली है जो कलात्मक दृष्टि से इतनी समर्थ, सशक्त और आकर्षक है कि इस शैली में बने चित्र दर्शकों की दृष्टि को बरबस बाँध लेते हैं। अपनी रसमय मनोहारी रंग योजना, आकर्षक एवं गतिमान रेखा-सौन्दर्य तथा लावण्यमय संयोजन वैशिष्ट्य के कारण किशनगढ़ शैली के चित्र न केवल भारत में वरन् विश्व भर में प्रसिद्ध हैं। काव्य और कला का जो कमनीय संगम हम किशनगढ़ शैली में पाते हैं वह अद्वितीय है। अंकित विषय के प्रतिपादन, विश्वासपूर्ण आलेखन तथा तूलिका की गतिशीलता को दृष्टिपथ पर रख कर देखा जाय तो किशनगढ़ शैली के लघुचित्र तत्कालीन कलाकारों की साधना और भावना की जीवन्त साक्षी देते हुए से प्रतीत होते हैं। इन चित्रों के कल्पनालोक में विचरण करते हुए दर्शकों को कभी कभी तो ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे वे आत्मा और परमात्मा के सामंजस्य के पवित्र सूत्र को पकड़ने की चेष्टा में प्रवृत हो गये हों।

कृष्ण भक्ति की अजस्र भक्तिधारा से सनी भक्त कवि नागरीदास की रसिकता एवं भावुकता से सम्पन्न और 'बणीठणी' के अनिंद्य रूप सौन्दर्य की प्रेरणा से पल्लवित संसार प्रसिद्ध किशनगढ़ चित्रशैली राजस्थान के एकीकरण से पूर्व स्थापित किशनगढ़ स्टेट की देन है। अजमेर और जयपुर नगरों के मध्य अवस्थित किशनगढ़ राज्य की स्थापना का श्रेय राजा किशनसिंह को है। ये जोधपुर राज्य के राठौर वंश के राजा उदय सिंह के आठवें पुत्र थे। राजा किशनसिंह ने किशनगढ़ राज्य की नींव

अपने ही नाम पर सन् १६०६ में डाली थी। उनके राज्य में कलात्मक कार्यों को स्वस्थ संरक्षण प्राप्त हुआ जिसने आगे चलकर अपनी मौलिकता एवं प्रभावशीलता के कारण किशनगढ़ शैली को एक स्वतन्त्र चित्रशैली के रूप में स्थापित किया।

किशनगढ़ शैली की इस स्थापना यात्रा में राजा रूपसिंह का नाम स्मरण रखने योग्य है। क्योंकि इस शैली के जन्म या मूल में वास्तविक हाथ उन्हीं का रहा है। राजा रूपसिंह जिन्होंने किशनगढ़ से लगभग दस मील की दूरी पर रूपनगढ़ बसाया था, एक भक्त-हृदय, विद्यानुरागी राजा थे। वल्लभकुल सम्प्रदाय में आस्था रखने के कारण राजा रूपसिंह भी राधाकृष्ण के युगल स्वरूप के आराधक थे। यही कारण था कि इनके समय के चित्रकारों को अपने स्वामी को अधिकांशतः राधा-माधव की मनोहारी लीलाओं का सुधापान कराना ही उचित व अभीष्ट रहा। राजा रूप सिंह के काल में बने चित्रों का कल्पनालोक इसी एक साधना और भक्ति भावना का संकेत देते हैं।

वल्लभकुल सम्प्रदाय में दीक्षित लोग कृष्णभक्ति के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने में विश्वास रखते हैं। अतः वे श्रीकृष्ण के मोहक बालरूप, नटखट किशोर रूप और गम्भीर युगल रूपों के अतिरिक्त उनके जीवन की सभी लीलाओं का मनन-चिंतन एवं दर्शन करके स्वयं को सर्वशक्तिमान श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन रखना पसन्द करते हैं। राजा रूपसिंह भी इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण श्रीकृष्ण की लीलाओं का श्रवण, कीर्तन किया करते थे। अतः उन्हें प्रसन्न रखने तथा इनकी भक्ति भावना को बल देने के लिहाज से तत्कालीन चित्रकारों ने राधा-माधव की अनेक लीलाओं को लघुचित्रों में साकार करना उचित समझा और किया। चित्रकारों द्वारा अंकित श्रीकृष्ण का रास-विलास अन्य भक्तों को भी प्रिय लगने लगा।

मन को श्रीकृष्ण के आनन्दप्रद आधार पर केन्द्रित करने और उनकी भावनाओं में लीन रखने हेतु चित्रदर्शन का मार्ग कृष्ण-भक्तों को भक्ति के ही एक मार्ग के रूप में लक्षित हुआ। आगे चलकर तो चित्र दर्शन का मार्ग प्रत्यक्ष दर्शन तक के लिए उन्हें उचित प्रतीत होने लगा था। वल्लभाचार्य स्वयं चित्रकार एवं चित्रप्रेमी थे। अतः चित्रकला में निपुण होना तब आचार्य परम्परा के अनुकूल एक आचरण हो गया। आचार्यों द्वारा चित्रित कृष्ण लीला सम्बन्धी अनेक चित्र वल्लभकुल मन्दिरों में आज भी उपलब्ध हैं।

किशनगढ़ चित्रशैली राजा राजसिंह एवं रामसिंह के समय में भी उत्तरोत्तर विकास के पथ पर बढ़ती रही। राजा राजसिंह तो स्वयं चित्रकार थे। वे कला रसिक, धर्म-प्राण एवं तेजस्वी वीर थे। कहा जाता है कि तत्कालीन कला को प्रभावित करने वाले कोई तेंतीस ग्रन्थों की रचना

राजा राजसिंह ने की । राजा रामसिंह भी कवि एवं कला मर्मज्ञ थे । कृष्णगढ़ के दुपड़ भंडार में उपलब्ध चित्र इनके समय की अनेक उल्लेखनीय कृतियां हैं ।

किशनगढ़ की चित्रकला को कलात्मक उत्कर्ष पर पहुंचाने का श्रेय जिस व्यक्ति को जाता है उसका नाम है राजा सावंतसिंह [१६९९-१७६४] जो एक कवि हृदय रसिक और भोगी होने के कारण आगे चलकर कविवर नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए । किशनगढ़ कला के उन्नायक राजा सावंतसिंह या नागरीदास राजा राजसिंह के सुपुत्र थे । भावुक एवं संत प्रकृति के नागरीदास राज शासन कार्य से तो अवश्य उदासीन थे किन्तु कृष्ण भक्ति में इनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से मुखर रहा । ये कविता और कला दोनों के प्रेमी थे । इन्हीं की प्रेरणा से किशनगढ़ शैली के चित्रों का साहित्यिक आधार ठोस एवं सशक्त बना । अपने पिता की रुचि के अनुकूल नागरीदास ने कलात्मक वातावरण में शिक्षा पाई थी । संस्कृत भाषा एवं संगीतकला की ओर भी इनका रुझान हुआ । रेखाकंन में इनके सधे हुए हाथ का प्रमाण किशनगढ़ दरबार के निजी संग्रह में उपलब्ध चार चित्र हैं ।

कविवर नागरीदास की भावुकता और शृंगार-प्रियता ने कविता के रूप में कृष्ण-भक्ति-रस की एक ऐसी पवित्र धारा प्रवाहित की जिसने अपने चारों ओर कृष्ण भक्तों को आकृष्ट कर लिया । सन् १७२३ से १७३१ तक के समय में 'विहार-चन्द्रिका', 'रसिक रत्नावली' और 'मनोरथ मंजरी' आदि कृष्ण-काव्यों की रचना करके इस क्षेत्र में आपने अपना अपूर्व योगदान किया । अपने पिता की भांति नागरीदास भी वल्लभकुल सम्प्रदाय की दीक्षा प्राप्त कर चुके थे ।

किशनगढ़ शैली के चित्रों का विषय प्रधानतः तो राधा-माधव की प्रेम लीला, प्रिया-प्रीतम मिलन तथा मान चित्रण ही रहा है, तथापि कविवर नागरीदास की प्रिया पासवान 'बणीठणी' के रूप सौन्दर्य [जो राधा की ही एक आदर्श मॉडेल थी] के चित्रण, किशनगढ़ के राजाओं तथा मुगल बादशाहों के चित्रों, 'गीतगोविन्द' के पदों के चित्राकंन आदि में भी इस शैली के चित्रकारों ने कलम का जादू फेरा है ।

झीलों, पहाड़ों, वनों-उपवनों का पशु पक्षियों से युक्त किशनगढ़ एवं रूपनगढ़ का प्राकृतिक परिवेश भी किशनगढ़ शैली के चित्रकारों के लिए प्रेरणा एवं अंकन का विषय रहा है । दूर तक विस्तृत झील के सुखद सरोवरों में केलि करते हुए हंस, बत्तख, सारस, बक और जलमुर्गाबी के अतिरिक्त लहरों में चलती नौकाएं भी अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक रूप में चित्रित की गई हैं । इस शैली के लघुचित्रों को मोहक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए चित्रकारों ने प्रकृति के अन्य उपादानों यथा कुंजों से झांकती सी श्वेत मुंडेरों, अट्टालिकाओं, फौव्वारों, केले के वृक्षों और कमलदलो का भी सहारा

लिया है। ये चित्रण किशनगढ़ शैली के विषय को एक अत्यन्त सजीव विस्तार देते हुए प्रतीत होते हैं।

राग-रागनियों पर चित्रांकन, रीतिकालीन कवियों का सा वैभव-विलास और परम्परानुकूल शृंगारिक भावनाओं को आधार बनाकर भी इस शैली के चित्रकारों ने अपनी तूलिका चलाई है। पृष्ठभूमि पर भव्य प्रासादों, केलों के कुजों, चन्द्रमा तथा तारागण से शोभित चाँदनी रात दिखाना भी उन्हें विशेष प्रिय रहा है।

किशनगढ़ शैली के चित्रकारों में अमीरचन्द, धन्ना, भंवरलाल, छोटू, सूरध्वज तथा मोरध्वज निहालचन्द के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। इस शैली के चित्रों में एक अनूठा जादू भरने तथा 'बणीठणी' के सौन्दर्य को आधार बनाकर राधा-कृष्ण के पुनीत माधुर्यभाव को जीवन्त रूप प्रदान करने में मोरध्वज निहालचन्द का नाम स्मरणीय है। यह इनकी ही अद्वितीय चित्रांकन प्रतिभा का परिणाम था कि किशनगढ़ शैली में जादुई प्रभाव की सृष्टि सम्भव हो सकी।

कहा जाता है कि 'बणीठणी' कविवर नागरीदास की प्रेयसी थीं। वे विदुषी, सौन्दर्यमयी, संगीतदक्षा तथा कवियित्री भी थीं। नागरीदास ने प्रयसी के रूप में इनकी आराधना की। इनके प्रति कविवर का आत्म निवेदन एक स्वस्थ काव्यधारा के रूप में प्रस्फुटित हुआ जिसने उक्त चित्रकारों को विषयवस्तु की विस्तृत पृष्ठभूमि तथा कल्पना एवं सौन्दर्य का विशाल आकाश प्रदान किया।

अंकन की विशिष्टता और रंग संयोजन की प्रखर अभिव्यक्ति के लिए किशनगढ़ की लघुचित्र कला सर्व प्रसिद्ध है। इस शैली में बने चित्रों में पुरुषों की आकृतियां समुन्नत ललाटवाली, पतले अधरों, उत्तिष्ठ नासिका, कालिमा से युक्त दीर्घ नेत्रों, लम्बी आजानु भुजाओं, सुकुमार अंगुलियों, उन्नत कंधों तथा प्रभावान मुख मण्डल से युक्त होती हैं।

नारी आकृतियों में नारीसुलभ लावण्य एवं कोमलता मुखर रहती है। विशाल और मोहक आंखें, विस्तृत केशराशि, दीर्घ नासिका, उन्नत ललाट, चमेली की पंखुड़ियों से अधर, अर्ध विकसित किन्तु खिला हुआ वक्षस्थल, आदि नारी के काव्य कल्पित रूप सौन्दर्य का अत्यन्त समीचीन अंकन हमें किशनगढ़ शैली में मिलता है।

छरहरे पुरुष शरीर में खुले केश, पेच बंधी पगड़ियाँ जो प्राय: मोतिया अथवा दूधिया रंग की होती हैं, अधरों पर सिन्दूरी रेख, मादक भाव से युक्त नेत्र, कानों में मुक्ताफल, मणिमालाओं से आच्छादित कंठ, पौरुष को व्यक्त करने वाले फैले हुए उन्नत स्कंध तथा अलंकारों से विभूषित दुपट्टे से कसी क्षीण कटि सौन्दर्य व्यंजना के लिए किशनगढ़ के चित्रकारों की प्रिय अभिव्यक्ति रही है।

चन्दन के लेप से पीताभ हुए कोमल नारी शरीर से खेलती हुई उन्मुक्त केशराशि जो कटि प्रदेश तक अधिकार किये होती है, अरुणाभ नेत्रों में काजल की घनी किन्तु आकर्षक रेख, चमेली की पंखुड़ियों से अधर, आगे निकली हुई चिबुक, वलयित भृकुटी, अत्यधिक क्षीण कटिबंध एवं पांवों को छिपाए लहंगा, कमलकोष सा पल्लवित किन्तु अर्ध विकसित उरोज प्रदेश मुक्ता मालाओं से ढंका दिखाया जाना इन चित्रकारों को विशेष अभीष्ट रहा है। कंचुकी और ओढ़नी से लिपटा हुआ अलंकारों से सुसज्जित, हाथ में अर्ध मुकुलित कमल कली से युक्त सुकोमल नारी शरीर न केवल उन कलाकारों की पैनी दृष्टि और अंकन प्रतिभा को उजागर करता है बल्कि राधा के माध्यम से 'बणीठणी' के रूप यौवन की माधुरी से भी अंतरंग परिचय करवाता है।

श्वेत और गुलाबी रंगों का मिश्रण किशनगढ़ चित्रों में एक अद्भुत एवं आकर्षक प्रभाव पैदा करने में समर्थ हुआ है। अन्य रंगों में हरा, गहरा नीला तथा लाल प्रमुख हैं। कुसुम शैया, फूलों के भार से झुके हरित आभा वाले वृक्ष तथा पृष्ठभूमि एवं सुवर्ण से आलेपित आकाश इन चित्रों की कतिपय अपनी विशेषताएं हैं।

जन-जन के आराध्य घनश्याम की भी नीलछवि ही विशेष रूप से सामने आती है। आकृतियों में मुक्ताभरणों का बाहुल्य और चित्र के हाशिये पर पतली किनार से युक्त गुलाबी रंग प्रयोग किया जाता है। किशनगढ़ की लघुचित्र शैली में चांदनी रात, भवनों के मध्य वर्षा, फव्वारे, सारस, पक्षी और लतापत्रों का जो बाहुल्य मिलता है वह उसको जोधपुर शैली के निकट ले जाता है। जोधपुर के राजाओं की कलाप्रियता का प्रभाव किशनगढ़ के राजाओं पर था। अतः ऐसा होना स्वाभाविक है। कांगड़ा शैली का किंचित प्रभाव भी किशनगढ़ चित्रों में दृष्टव्य है। कांगड़ा प्रान्त जोधपुर के निकट था अतः सम्भवतः उसका प्रभाव यहां तक हुआ हो। किशनगढ़ के चित्र साहित्यिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से भी कांगड़ा के समकक्ष रक्खे जा सकते हैं। कांगड़ा एवं किशनगढ़ के अतिरिक्त अन्य किसी शैली का इतना सफल साहित्यिक आधार नहीं है।

प्रकृति चित्रण के लिहाज से बून्दी की लघुचित्र शैली किशनगढ़ चित्रों के प्रभाव क्षेत्र में रही है।

अपने सुदीर्घ कलेवर और भव्य अभिव्यक्ति के बावजूद किशनगढ़ लघुचित्र शैली में बनी कृतियां संख्या में अधिक नहीं हैं। फिर भी यह एक स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण चित्र शैली के रूप में सर्वत्र जानी जाती है। किशन-गढ़ महाराजा के निजी संग्रह, दिल्ली संग्रहालय, कलाभवन बनारस, आदि स्थानों पर इस शैली की कृतियां सुरक्षित हैं। किशनगढ़ शैली के कुछ चित्र बड़े आकार में भी बने हैं।

आकृतियों के ओज एवं माधुर्य, रेखाओं की सम्पन्नता, रंगों के जादू और दृश्यों के सबल आधार देने वाली किशनगढ़ की लघुचित्र शैली जहां प्रबुद्ध दर्शक को लोक से अलौकिक जगत तक ले जाने में समर्थ है वहां वह उसे यह सोचने पर भी बाध्य करती है कि वास्तव में ये चित्रकृतियां सत्य के निकट हैं अथवा सत्य उनके निकट है। इस दृष्टि से किशनगढ़ शैली के चित्रों को रहस्यमयी कल्पनाओं के अमूर्त्त स्वप्न भी कहा गया है। □

राजस्थानी जैन चित्र शैली

श्री रामगोपाल विजयवर्गीय

प्रत्येक देश, प्रान्त या नगर की चित्रकला उस स्थान के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन को प्रकाश में लाकर उसे अमर बना देती है। जैसा वातावरण, जैसी वेश-भूषा जैसी आकृतियां और जैसा जीवन मूल्य समय-समय पर प्रचलित होता है उसके अनुरूप ही चित्रों के विषय, भाव-भंगिमा और नख-शिख होते हैं। इस दृष्टि से भारत की कला में भारतीय नख-शिख, रूप-रंग और चीनी कला में चीन के नख-शिख तथा ईरानी कला में ईरानी नख-शिख का प्रभाव होता है। यही स्थिति यूरोप की कला की है।

जैन चित्रों का आरम्भ गुजरात में जैन समाज की धार्मिक परम्पराओं और मान्यताओं के अनुकूल होता है, जिनमें धार्मिक कथा-कहानियां तीर्थंकरों के जीवन चरित्र, काव्य एवं नाटक आदि होते हैं। गुजरात जैन-धर्म का केन्द्र है, इसलिये भी इस कला का नामकरण जैन चित्रकला हुआ है। यही परम्परा राजस्थान में भी प्रचलित थी और सैकड़ों की संख्या में जो जैन ग्रन्थ यहां लिखे गए उन्हें यहां के कलाकारों द्वारा चित्रित किया गया है। इन चित्रों को श्री रायकृष्णदास ने अपभ्रन्श शैली नाम दिया है। कुछ कला-मर्मज्ञ इसे राजस्थानी परम्परा ही मानते हैं, कुछ ने इसे गुर्जर शैली भी नाम दिया है। कुछ विद्वान कहते हैं कि प्राचीन समय में राजस्थान और गुजरात प्रान्त एक ही था जो गुजरात्रा प्रदेश कहलाता था। अनुमान जितने भी हैं, किसी न किसी आधार को लेकर किये गये हैं उनमें सत्य का भी अंश है ही। किन्तु वास्तव में इन सब बातों के बावजूद

जैन लघुचित्रों की यह परम्परा अन्य चित्र शैलियों से एक पृथक अस्तित्व रखती है। इन चित्रों जैसा नख-शिख, रंग-विधान रेखा-सौष्ठव न तो राजस्थानी शैली में है और न अन्य किसी निकटवर्ती शैली में। इस चित्र परम्परा का आलेखन अजन्ता की बौद्ध शैली के पर्याप्त निकट है। इसके अतिरिक्त पालकालीन पुस्तकों के चित्रों में भी इसी शैली के आलेखनों की परम्परा दिखलाई पड़ती है। भारतीय चित्रों का इतिहास अजन्ता के चित्रों से आरम्भ होकर दूसरा मोड़ इसी शैली के रूप में लेता है और अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचता है। इन चित्रों को विकृत पतन की ओर अग्रसर या अपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इनकी अपनी मर्यादा है, विशेषता है, चिन्तन-दिशा है और अपने मूल्य हैं। अजन्ता शैली जिस प्रकार एक सत्य को प्रस्तुत करती है उसी प्रकार जैन शैली भी एक सत्य को प्रकाश में लाती है। अपने-अपने सत्यों का अपना पृथक मूल्य है। इस दृष्टि से इस कला को मध्ययुगीन कला की एक कड़ी कहें तो अनुचित नहीं होगा। सारे दक्षिण भारत के चित्रों में भी यही परम्परा व्याप्त दिखलाई पड़ती है. किन्तु इस कला ने भारतीय चित्रों के कोष को जितना भरा है, उतना इसकी समकालीन कलाओं ने नहीं।

गुर्जर जाति के ऐतिहासिक तथ्यों को छोड़कर केवल चित्रगत नख-शिखों से वेष-भूषा का अनुमान लगाया जाय तो इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि विदेशी अतिक्रमणकारियों का प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर पड़ा। जैन चित्र गुर्जर जाति के नख-शिखों की जैसे एक सूची हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इनसे यह धारणा बनाई जा सकती है कि स्वयं गुर्जर जाति भी विदेशी विजेताओं के दल की एक सत्ता थी जिसका आगे चलकर भारतीयकरण हो गया। सम्भवतः शक और हूणों का वह दल ही गुर्जर सत्ता थी जिसका इतिहासकारों ने पश्चिमोत्तर दिशाओं से आये हुए विजेताओं आदि अनेक रूपों में वर्णन किया है।

गुर्जर और वृहत्गुर्जर नाम की जाति अब भी गुजरात, काठियावाड़, अजमेर, जोधपुर, जसलमेर तक फैली हुई है। इनका रूप-रंग, वेष-भूषा एक जैसी ही है। मालवा और राजस्थान में प्राचीन चित्रों जैसे वस्त्र एवं आभूषण अब तक पहिने जाते हैं इनमें जैन चित्रों की अलंकारिक परम्परा दिखलाई पड़ती है। अजमेर और गुर्जर काठियावाड़ के चित्र गुर्जर जैन चित्रों की चलती फिरती प्रतिमाएं हैं। गुजरात के समस्त जन-जीवन में भी जैन चित्रों में पाई जाने वाली संस्कृति ही परिलक्षित है।

जैन चित्रों में नख-शिख

जैन आकृतियों में कनपटियां चौड़ी, कान की लौ तक बाहर निकली हुई, नाक लम्बी सधी हुई, नुकीली और शुक चन्चु के अनुरूप आंखें गोल और बड़ी होती हैं। काजल की रेखा कानों तक खिंची हुई तथा आंखें मुख

की सीमा से बाहर निकली हुई होती हैं, ताकि उनकी विशालता का अनुमान किया जा सके। होंठ पतले और एक दूसरे से चिपके हुए सिरोष के पुष्प के समान। मुख की रेखा दूर तक फैली हुई। कान लम्बे और छिदे हुए होते हैं। चिबुक दो भागों में विभक्त या गोल आम की गुठली के समान होती है। कण्ठ में तीन रेखाएं, कन्धे चौड़े और उठे हुए, भ्रू प्रदेश मिला हुआ, कटि अत्यन्त क्षीण, केहरि को उपमा को ग्रहण करती जंघाएं, भारी पर पांव नीचे से पतले होते हैं। केश कन्धों तक झूलते, ग्रीवा तक कटे हुए अथवा जूड़े के आकार में बंधे होते हैं। जूड़ा कभी सिर के ऊपर और कभी पीछे की ओर स्त्रियों के समान होता है। मूंछे बारीक, मुख की रेखा के पास नीचे की ओर लटकी हुई होती है।

पुरुषों की दाढ़ी दो भागों में विभक्त या लम्बी नीचे की ओर लटकी होती है। केशों में फूल और मुंडे हुए सिर होते हैं। नारी सौन्दर्य में स्तन अत्यन्त पुष्ट जिन पर स्तन पट्टिका बंधी हुई या चोली अर्थात् कन्चुकी होती है। केशों के जूड़े बंधे हुए, अलकें कपोलों तक लहराती, जिनमें काले कुन्दन लटकते रहते हैं। काले कुन्दन पांवों, हाथों और वेणी में भी होते हैं। चिबुक का निचला भाग त्रिकोण, भरा हुआ, गद्दीदार नाभि, गंभीर उदर पीपल के पत्ते के समान होता है। कटि क्षीण, मुख त्रिकोणाकार होता है। स्त्रियों के भ्रू धनुष के समान और आंखें पटोलाक्ष होती हैं। हाथों की मुद्रा अंगुली निर्देशन या सिंहासन की पीठिका पर पल्लवाकार फैली होती है।

राजस्थानी लघुचित्र शैली का आरम्भ इन्हीं जैन चित्रों की परम्परा से होता है जो पन्द्रहवीं शती के अन्त तक एक पृथक रूप धारण कर चुके थे। राजस्थानी शैली के ये प्रारम्भिक चित्र जैन चित्रों की नख-शिख परम्परा से प्रभावित ही नहीं, पूर्णतया जैन चित्रों के सभी अभिप्रायों के साथ जुड़े हुए हैं। श्री एन. सी. मेहता के संग्रह से प्राप्त लौरचन्दा कथानक के राजस्थानी चित्र जैन परम्परा के बहुत निकट हैं। उदयपुर प्रान्त के चाउण्ड ग्राम के चित्रों में भी जैन प्रभाव लक्षित होता है तथा यहां अनेक पुस्तकों की चित्र-परम्परा जैन चित्र शैली की ही देन जान पड़ती है।

जैन चित्र उस समय भी राजस्थान में प्रायः उतनी ही संख्या में बनते रहे जितने कि गुजरात में। इस शैली के कलाकारों का एक समुदाय आज भी राजस्थान के उदयपुर, बीकानेर, जोधपुर आदि नगरों में निवास करता है। इन्हें गुरां या गुरु जी के नाम से सम्बोधित किया जाता है। गुरुओं की यही एक जाति राजस्थान में बसती है जिसका व्यवसाय पुस्तकें लिखना तथा उनकी प्रतिलिपियां तैयार करना है। इनका भरण-पोषण जैन लोगों की दान-दक्षिणा से चलता था। पहले इनका पारिश्रमिक बहुत होता था। बीकानेर के मथेरन या मथेर भी चित्र लिखने का ही व्यवसाय करते रहे है। इनके वशंज आज भी विद्यमान हैं और इनके घरों में अपूर्ण

चित्र, अपूर्ण पुस्तकें तथा वह सामग्री प्राप्त होती रहती है, जिन्हें वे चित्र-लेखन या पुस्तक लेखन में उपयोग करते थे। उनका कथन है कि वे वल्यसूत्र, संग्रहणीसूत्र तथा चौबीस तीर्थंकरों की चित्र, कथा-पुस्तकें आदि लिखते रहें हैं। इसके लिये इन्हें खेती के लिये जमीन मिली है तथा जैन गृहस्थों के द्वारा अनेक अवसरों पर दान भी प्राप्त हुआ है।

जयपुर के एक जैन भण्डार में देहली के निकट पालम नगर का बना एक आदि पुराण है जो पन्द्रहवीं सदी का लिखा हुआ है। इसमें तीन सौ से अधिक चित्र हैं जो जैन शैली की चरम उन्नति का प्रमाण देते हैं। इनके चित्रों में वस्त्रों के रंग प्रायः काले, कत्थई व गहरे नीले होते हैं। नीली चुनरी जिस पर सफेद बूटे होते हैं। कत्थई पर काले बेल बूटे और काले पर सफेद के आलेखन इन्हें प्रिय रहे हैं। मालवा, काठियावाड़, गुजरात और राजस्थान के जन-जीवन में यही परम्परा है। यही वेष-भूषा हम यहां देख सकते हैं।

जैन शैली में चित्रित बाल-गोपालस्तुति श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह में, राग रागनियां बनारस कला भवन में, कामशास्त्र श्री मोतीचन्द खजांची के पास, पालम के बने श्रीकृष्ण लीला सम्बन्धी चित्र कुमार संग्रामसिंह के संग्रह में, कल्प संग्रहणीसूत्र नवाब साराभाई के संग्रह में देखकर जैन चित्रों की एक पृथक सत्ता का ज्ञान हमें होता है। जैन चित्रों में सभी प्रकार के धार्मिक तत्वों के अतिरिक्त शृंगार भावनाओं का भी चित्रण हुआ है। उदाहरणस्वरूप रति-रहस्य, काम-मन्जरी आदि चित्र देखे जा सकते हैं।

जैन आकृतियों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि वे ईरानियों और उत्तर पूर्व की बर्बर जातियों से अधिक मेल खाती हैं। इनकी कनपटियां मंगोलों जैसी, दाढ़ी मूछें तुर्की तातारों जैसी, एवं वेष-भूषा भी तुर्की के ही अनुरूप कितने की आलेखनों में पाई जाती है।

आधुनिक कला की दृष्टि से जैन चित्रों की संयोजन-विधि अत्यन्त-सुदृढ़ और सम्पूर्ण है। रंगों का विभाजन, उनकी सामूहिक शक्ति, उनका परस्पर सापेक्ष-सौंदर्य दर्शनीय होता है। मात्र विषय-विविधता की दृष्टि से सोचें तो संकीर्णता का आभास होता है। अन्यथा आज के अभिव्यन्जनावादी तथा अति कल्पनावादी चित्रों से इनकी तुलनात्मक विवेचना की जाय तो ये आज की कला के स्रोत से जान पड़ते हैं। येचित्र अभिप्रायों के रूप में तो बहुत ही सफल एवं सुन्दर बन सके हैं। आधुनिक कलाकारों ने बहुत कुछ प्रेरणा इन जैन चित्रों से ही ली प्रतीत होती है। त्रिकोणवादी, अमूर्तवादी और संक्षेप आलेखन विधि के कितने ही प्रकार आधुनिक कला में प्रकट हुए हैं। यद्यपि आधुनिक कला की परम्परा

योरप से ग्रहण की गई है और वही इसका मूलस्रोत माना जाता है। निश्चय ही वान् गाग और गोगिन के चित्र हमारी प्राचीन चित्र परम्परा के आभारी हैं। रंगों की पृथक-पृथक सत्ता का सौंदर्य स्वीकार करने की विद्या अन्य देशों में भारतीय चित्रों से ही ली गई है, इस बात का ज्वलन्त उदाहरण राजस्थान के प्राचीन चित्र हैं।

जैन चित्रों में शास्त्रीय व्याकरण की भी एक विशेषता है जिसके मूल में ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, मन्त्रशास्त्र तथा तन्त्रशास्त्र की ज्ञान गरिमा छिपी पड़ी है।

जैसी कि भारतीय परम्परा है, जैन चित्रों में भी एक आदर्श सौंदर्य का स्थान रहता है। इसमें अनेक रहस्यवादी तत्व छिपे रहते हैं। उदाहरण स्वरूप देव, दानव और मानवीय आकृतियों का रूप निर्माण एक नियम के अनुसार होता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रधान चित्रों के अपने अपने अभिप्राय और प्रतीक होते हैं। छोटी सी आकृति का जैन चित्र एक सम्पूर्ण पुस्तक के समान होता है। ईरान के पुस्तकीय चित्रों की परम्परा को भी जैन चित्र याद दिलाते हैं। उनके प्रभावों का आदान प्रदान भी हुआ है, लेकिन हमारी संस्कृति और धार्मिक मर्यादाओं को लांघ कर वे आगे नहीं बढ़ सके हैं।

जैन पुस्तकों में ये नाम उनकी प्राचीनता के प्रतीक हैं। सका पद कमल सुत चुन्नि सं. १२६७। बालगोपाल स्तुति सं. १४५०। प्रज्ञा पारिमिता सुपासनाइर्चयम्। मेदपाट अहाड़ सं. १४००। कल्पसूत्र सं. १६६६। संग्रणी-मूत्र सं. १४४०। अन्गसूत्र नेमिनाथ चरित्र। कालक कक्षा। उत्तराध्ययन। सूत्र। कथा रत्न सागर। रति-रहस्य। दुर्गा सप्तशती। रागमाला। श्रीपाल चरित्र। शालिभद्र चौपाई। नेमिनाथ चरित्र। कच्छ-बच्छ वार्ता आदि ग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या में लिखे गये हैं। कल्प-सूत्र प्रायः सचित्र मिलते हैं। इनके चित्र छोटे और पुस्तक के एक ओर चित्रित रहते हैं। पुस्तक पत्रों के मध्य कमल का फूल या चतुष्कोण अलंकारिक आकृति होती है। जैनों में मूर्तियों और चित्रों की अधिकता पाई जाती है। ये सगुण उपासना के साथ-साथ चित्र दर्शन की महिमा और उसके द्वारा होने वाले पुण्य फलों एवं आत्मा के लिये कल्याणकारी समझे जाते हैं।

इन्द्रसभा, चौदहस्वप्न, जन्माभिषेक, जन्महोत्सव, शक्रस्तव, पन्चपुष्टिलोंच, सुपार्श्वप्रभु, क्षीरसमुद्र, पद्म सरोवर, पूर्ण कलश, तृष्णा, निर्वाण, आर्यकालक और गर्दभिल्ल राजा, महावीर जन्म, त्रिशला गर्भ-संक्रमण, रानी सोमा, कल्प वृक्ष, इन्स पक्षी आदि जैन चित्रों के प्रमुख विषय रहे हैं।

कदली, कुम्भ, तोरण, मयूर, वृषण, सिंह, इन्स, हाथी, कलश, चामर, ध्वजा, सरिता, लता वेष्टिका, वृक्ष, मेघमाला, लड़ते हुए वृषण, कच्छप,

वानर, विडाल, सर्प, शुक, पुष्पमालिका, सरोवर, रथ, हरिण ग्रादि का पाजस्थानी जैन चित्रों में प्रतीकात्मक ग्रालेखन हुग्रा है।

इन चित्रों में मयूर कंठ के समान नीला, हिंगलू, पीत, सुनहरी, रजतचूर्ण ग्रादि रंगों का सफल प्रयोग किया गया है। इनमें नीली पृष्ठभूमि का ग्रालेखन सम्वत् १६०० से १८०० तक, लाल पृष्ठभूमि का सम्वत् १४५० से १६०० तक तथा पीत पृष्ठभूमि का १३०० से १४५० तक हुग्रा है।

जैन लघुचित्रों की रेखाएं ग्रत्यन्त पतली, समान, शक्तिसम्पन्न एवं साधनायुक्त होती हैं। इनमें ग्रर्धचन्द्राकार रेखाग्रों का बाहुल्य ग्रौर मेघ मलिका के समान बहती हुई रेखाग्रों का सामंजस्य है। इस शैली के प्रायः सभी चित्र रेखा प्रधान हैं। ये सशक्त रेखाएं सुदृढ़ ग्रौर ग्रपनी मर्यादा एवं साधना को प्रकट करती हैं। संयोजन ग्रौर गतियुक्त लयात्मक सौष्ठव भी इनमें पाया जाता है।

नागौर, जालोर, जोधपुर, बीकानेर, बवरेड़ा, उदयपुर, पालम, जौनपुर, जैसलमेर, पाली ग्रौर कुचामन ग्रादि राजस्थान के वे स्थान हैं जहां जैन चित्रों का ग्रालेखन हुग्रा है।

कुछ ग्रौर भी ग्रज्ञात स्थान हैं जहाँ जैन चित्र बने हैं। जैन धर्मा-वलम्बियों की सामूहिक सत्ता जहां-तहां थी, वहां ही ये चित्र ग्रपना चमत्कार दिखलाते रहे। चित्रों की भाषा सर्वभौम होने के कारण जैन धर्म प्रचारकों ने भी उनके द्वारा ग्रपनी ग्रपनी बात कही है।

जैन साधुग्रों में तो पुस्तकें लिखने तथा चित्र बनाने की परम्परा ग्राज भी जीवित है। जती समुदाय में जैन पुस्तकों का ग्रटूट भण्डार सुरक्षित है। इन पुस्तकों में सचित्र जैन ग्रन्थ भी हैं, जिनमें चित्रों की ग्रनेक प्रतियां उपलब्ध हैं।

जैन चित्र शैली कला-चित्रों की शास्त्रीय पद्धति के ग्रनुसार एक स्वतन्त्र विधा है, जिसकी ग्रपनी मर्यादा ग्रौर ग्रपनी विशिष्ट चिन्तन परम्परा है। □

मेवाड़ अथवा उदयपुर शैली

डॉ० जयसिंह नीरज

राजस्थानी चित्रकला में ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से मेवाड़ शैली का प्रमुख स्थान है। मेवाड़ [आधुनिक उदयपुर] प्रारम्भ से ही कलाओं का प्रेरणा-स्रोत रहा है। प्राचीन मेवाड़ और उदयपुर स्टेट में परिपोषित चित्रकला आज मेवाड़ शैली के नाम से जानी जाती है। राजस्थानी शैली का प्रारम्भिक और मौलिक स्वरूप जो सामंजस्य के फलस्वरूप बन पाया था वह मेवाड़ शैली में दृष्टव्य है। डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है—'वल्लभीपुर के गुहिल वंशीय राजाओं के साथ कलाकार वहाँ से सर्वप्रथम मेवाड़ में आए और उन्होंने अजन्ता परम्परा को प्रधानता देना शुरू किया। स्थानीय विशेषताओं से मिलकर यह परम्परा अपना स्वतन्त्र रूप बना सकी जिसे हम मेवाड़ शैली कहते हैं। राजस्थान में फैलने वाले इस प्रभाव को हम 'जैन शैली', 'गुजराती शैली', 'पश्चिमी भारतीय शैली' तथा 'अपभ्रंश शैली' आदि कुछ भी कह दें, इसमें संदेह नहीं कि ७वीं से १५वीं सदी तक अविरल रूप से यहाँ मौलिक कला तथा अजन्ता परम्परा की कला के सामंजस्य से पैदा होने वाले सिद्धान्तों के अनुकूल, चित्रकला, मूर्तिकला तथा शिल्प की उन्नति होती रही, इस धारा को वहन करने का श्रेय मेवाड़ को ही है।'

मेवाड़ का इतिहास वीरता, स्वतन्त्रता की रक्षा, कलाओं का संरक्षण आदि के लिए प्रसिद्ध रहा है। विपत्तियों, बाधाओं और युद्धों से आक्रान्त मेवाड़ ने धर्म और कलाओं की जो रक्षा की है वह अविस्मरणीय है। किन्तु निरन्तर मुगलों से जूझते रहने के कारण प्रारम्भिक मेवाड़ी चित्रकला

का इतिहास आज अनेक भ्रान्तियों से भरा पड़ा है। राजस्थानी चित्र कला के उद्‌भव और विकास में मेवाड़ शैली का प्रमुख स्थान है। राजस्थान की विभिन्न लघुचित्र शैलियां मेवाड़ शैलो से ही जन्मीं, प्रभावित और परिपोषित हुई हैं।

डॉ० हरमन गोइत्ज ने 'मेवाड़ मार्ग' में लिखा है–'भारतीय चित्रकला की अजंता, एलोरा शैली की परम्परा को संभवत: मेवाड़ शैली ने वहन किया हो, किन्तु चित्तौड़, चावंड आदि प्राचीन कला-केन्द्रों के बार-बार ध्वस्त होते रहने पर मेवाड़ की प्राचीनतम परम्परा का इतिहास बताने वाली कृतियां सदा के लिए कालकवलित हो गईं और ऐसी स्थिति में आज भी मेवाड़ शैली के प्रारम्भिक स्वरूप के बारे में अटकल बाजी ही लगाई जाती है। इसलिए मेवाड़ शैलो का प्रारम्भिक इतिहास एक पहेलो बना हुआ है।'

मेवाड़ के इतिहास में राणा कुम्भा [१४३३–१४६८] का महत्वपूर्ण स्थान है। स्थापत्य और संगीत को महत्व देने वाला महान् कला-प्रेमी राजा चित्रकला के प्रति उदासीन हो, यह बात समझ में नहीं आती, किन्तु बिना आधार के १५वीं–१६वीं शताब्दी के चित्रण का इतिहास अभी तक अंधकार में ही है।

राणा सांगा [१५०९–१५८८] का जीवन बाबर से युद्ध करते ही बीता, जो अपनी वीरता की कहानियाँ पीछे छोड़ गया। उनकी पुत्रवधू मीराबाई ने राजस्थान में कृष्णभक्ति की जो रसधार बहाई वह अनमोल है। कलाओं का केन्द्रस्थल चित्तौड़ बार-बार के युद्धों से जर्जरित हो गया और उदयसिंह ने [१५३७-१५७२ में] सामरिक महत्व के कारण उदयपुर को अपनी राजधानी बनाया। महाराणा प्रताप [१५७२-१५९७] ने मुगलों की आधीनता कभी नहीं स्वीकारी और चावंड को अपनी राजधानी बनाया। इस प्रकार चित्तौड़, चावंड और उदयपुर प्रारम्भिक मेवाड़ी चित्रकला के प्रमुख केन्द्र रहे। अमरसिंह प्रथम [१५९७-१६२०] ने मुगलों की आंशिक अधीनता स्वीकारी जिसके कारण मुगल कला का प्रभाव मेवाड़ शैली पर आया, जो करणसिंह [१६२०-१६२८] और जगतसिंह प्रथम [१६२८–१६५२] पर भी रहा, किन्तु राजसिंह [१६५२-१६८०] ने औरंगजेब की अधीनता को अस्वीकार किया और प्रसिद्ध श्रीनाथ जी की मूर्ति को नाथद्वारा में स्थापित कर वैष्णवधर्म-प्रियता का परिचय दिया। राजसिंह कलाप्रेमी, पुष्टि संप्रदायी और विद्वान राजा था। उसके समय में कलाओं ने अत्यधिक विस्तार पाया। जयसिंह [१६८०-१६९१] तथा अमरसिंह द्वितीय [१६९८–१७१०] ने मेवाड़ की इस कला परम्परा को आगे बढ़ाया।

उपर्युक्त तथ्यों से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी चित्रकला के विकास में मेवाड़ [मेदपाट] का प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण

योगदान रहा है। इतिहासकार श्री तारकनाथ ने भी ७वीं सदी में मरुदेश [मारवाड़] के विख्यात चित्रकार श्रीरंगधर द्वारा चित्रकला का स्थापन माना है। किन्तु तत्कालीन चित्र अनुपलब्ध हैं। अब तक की गई खोज के आधार पर मेवाड़ शैली का प्रथम उदाहरण 'श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णी' नामक सचित्र ग्रंथ है, जो अघाट [अहाड़, उदयपुर] में सन् १२६० में गुहिल्ल तेजसिंह के राज्यकाल में चित्रित हुआ। उसकी साज-सज्जा नागदा और चित्तौड़ के मोखल के मंदिर की तक्षण कला की साम्यता में है। इस शैली की विशेषता में सवाचश्म गरूड़ सी नासिका, परवली फाँक से नेत्र, घुमावदार लंबी अंगुलियां, लाल पीले रंग का प्राचुर्य आदि प्रमुख है। इसका उदाहरण हमें मोखल के शासनकाल का देवकुलपाटक स्थान में लिखित एवं चित्रित ग्रन्थ 'सुपासनाह चरियम' [सुपार्श्वनाथ चरित्र] में प्राप्त होता है, जो सन् १४२२-२३ का लिखित है। इसमें राजस्थानी चित्रण की भावभूमि पर उपर्युक्त विशेषताओं के साथ जैन एवं गुजरात शैली का पूर्ण प्रभाव है। इस शैली की लड़ी में सन् १४२६ का कल्पसूत्र भी उल्लेखनीय है। इसकी वेशभूषा कुंभा के विजयस्तंभ की मूर्तियों की वेशभूषा के अनुरूप है।

अन्य जैन ग्रन्थों में भी राजस्थानी विशेषताएं द्रष्टव्य हैं, पर बिना आधार के कुछ कह पाना कठिन है। संभवत: कई शताब्दियों तक भारत के पश्चिम में, विशेषतया मेवाड़ में उपर्युक्त मिश्रित शैली का पूर्ण प्राधान्य रहा।

महाराणा कुंभा के दुर्ग में [कुम्हलगढ़] तथा चितौड़गढ़ के कुंभा महल में कुछ भित्तिचित्र तत्कालीन चित्रकला के परिचायक हैं जिनकी केवल अस्पष्ट धुंधली छाप ही देखने को मिलती है। संभवत: १५ वीं १६ वीं शताब्दी के चित्र चित्तौड़ के कला-भंडारों में ही भस्म हो गए।

१६ वीं शताब्दी में महाराणा प्रताप की राजधानी चावंड चित्रकला का प्रमुख केन्द्र रहा। १६०५ में चित्रित प्रसिद्ध 'रागमाला सैट' चावंड में ही चित्रित हुआ जिसमें लोककला का पूर्ण प्रभाव और मेवाड़ शैली का स्वरूप अंकित है। सन् १६४० में चित्रित नायक-नायिका भेद संबंधो सैट मेवाड़ शैली का ही उदाहरण है। इसमें जहांगीरकालीन मुगल शैली का आंशिक प्रभाव दर्शनीय है।

१७ वीं शताब्दी के मध्य में महाराणा जगतसिंह के काल के [१६२८-५२] मेवाड़ शैली में अनेक सचित्र ग्रंथ प्राप्त हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के राजस्थान में प्रसार के कारण राधाकृष्ण की लीलाएं मेवाड़ शैली की प्रमुख देन रही हैं। अत: भागवत पुराण चित्रण का प्रमुख आधार ग्रंथ बन गया। कलाकार शाहबदी द्वारा चित्रित सन् १६४८ का

भंडारकर इन्स्टीच्यूट पूना, महाराजा जोधपुर, कोटा पुस्तकालय तथा राष्ट्रीय संग्रहालय में अवस्थित सचित्र भागवतपुराण मेवाड़ चित्रशैली का प्रमुख उदाहरण है। इस समय कृष्ण-लीला संबंधी काव्यों का चित्रण बहुलता से हुआ जो मेवाड़ में कृष्णभक्ति के प्रसार के परिचायक हैं। सूरसागर, रसिकप्रिया, रागमाला, रामायण आदि का चित्रण भी मेवाड़ शैली में उपलब्ध है। सरस्वती भंडार में संग्रहीत रामायण सन् १६५१ की, तथा प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में मनोहर द्वारा चित्रित सन् १६४९ की महत्व-पूर्ण प्रतियां हैं। 'सूरसागर' के पदों पर आधारित अनेक सचित्र पन्ने गोपीकृष्ण कानोडिया, कु० संग्रामसिंह व श्री रामगोपाल विजयवर्गीय आदि के पास उपलब्ध हैं।

बीकानेर दरबार के संग्रह में प्राप्त 'रसिकप्रिया' तथा प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम की 'गीतगोविन्द' की प्रति भी १७ वीं शताब्दी के मध्य की है। निश्चय ही जगतसिंह प्रथम और राजसिंह का समय मेवाड़ की चित्र शैली के विकास और विस्तार में महत्वशील रहा है।

महाराणा जगतसिंह [१६२८-५२] तथा राजसिंह [१६५२-८१] का समय मेवाड़ी चित्रकला तथा अन्य कलाओं के विकास की दृष्टि से स्वर्णयुग था। अनेक संस्कृत ग्रंथ तथा हिन्दी के भक्तिकालीन और रीतिकालीन ग्रंथों का चित्रण इनके समय में बहुलता से हुआ जो विभिन्न संग्रहालयों तथा निजी संग्रहकर्ताओं के पास बिखरा पड़ा है। इनमें राधाकृष्ण की लीलाओं से सम्बंधित काव्यों का चित्रण विशेष उल्लेखनीय है। नाथद्वारा में सन् १६७० के लगभग श्रीनाथजी की मूर्ति की स्थापना हुई और कृष्णलीला का कलात्मक स्वरूप मेवाड़ में जोर-शोर से विस्तार पाने लगा। मेवाड़ शैली की उपशैली नाथद्वारा में व्यापारिक दृष्टि से कृष्ण लीलाओं का चित्रण बहुलता से होने लगा। राजसिंह के उपरान्त जयसिंह [१६८१-१६९८] ने अपनी विलासिता के कारण कलात्मक परम्परा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। अतः मेवाड़ शैली धीरे-धीरे पतनोन्मुख होने लगी। महाराणा अमरसिंह द्वितीय [१६९८-१७१०] तथा संग्रामसिंह द्वितीय [१७१०-३४] ने मुगलकला के प्रभाव को स्वीकार किया और मेवाड़ शैली का उपर्युक्त बिगड़ा हुआ मिश्रित स्वरूप राजदरबार में और ठिकानों तथा वैष्णव धर्मी पीठों में १९ वीं शती के प्रारम्भ तक घिसटता रहा।

मेवाड़ शैली की कुछ ऐसी प्रमुख विशेषताएं रही हैं जिन्होंने राज-स्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों को प्रभावित किया है। प्रारंभिक मेवाड़ शैली में जैन और गुजरात शैली का मिश्रण दृष्टव्य है। साथ ही लोककला की रूक्षता, मोटापन, रेखाओं का भारीपन आदि मेवाड़ शैली की विशेषता रही है। किन्तु १७ वीं शताब्दी के मध्य में मेवाड़ शैली का स्वतन्त्र स्वरूप अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है।

पुरुषाकृति गठीली मूछों से युक्त भरे चेहरे, विशाल नयन, खुले हुए अधर, छोटी ग्रीवा, उदयपुरी पगड़ी, लंबा साफा, कमर में दुपट्टा और सामान्य अलंकारों से आवृत्त शरीर मेवाड़ शैली की विशेषताएं हैं। स्त्रियों के चित्र, सरलता के भाव लिए, मीनाकृत आंखें, सीधी लम्बी नाक तथा भरी हुई दोहरी चिबुक, ठिंगना कद, लूगड़ी घाघरे और विभिन्न ठेठ राजस्थानी आभूषणों से आवेष्ठित होती हैं।

प्रकृति का संतुलित चित्रण, मेवाड़ शैली में दृष्टव्य है। पक्षियों में चकोर, हंस, मयूर और पशुओं में हाथी, घोड़ा, हरिण, सिंह आदि विशेष चित्रित हुए हैं। मेवाड़ शैली में रंगों की अपनी सरलता है। लाल, हरी और पीली धरती पर अधिकतर चित्र बने हुए हैं। शारीरिक रंग भी अधिक उज्ज्वल न होकर श्याम, ताम्र और नीलवर्ण के होते हैं। सादे लाल तथा काले रंग के खतों से आवेष्ठित मेवाड़ शैली के चित्र भले लगते हैं। तड़क-भड़क या अलकरण मेवाड़ शैली में बहुत कम है।

मेवाड़ चित्रकला पर अभी तक परिपूर्ण शोध नहीं हो पाया है, फिर भी अनेक संग्रहालय और निजी संग्रहकर्ताओं के पास बहुत से लघुचित्र और पोथीग्रंथ उपलब्ध हैं। विदेशों में भी मेवाड़ शैली के अनेक चित्र और सचित्र पोथीग्रंथ बिखरे पड़े हैं, जिन पर शोध होना आवश्यक है।

मेवाड़ शैली में पोथीग्रंथों का चित्रण सर्वाधिक मिलता है। प्रारम्भ में जैन ग्रंथों से लेकर पुराण, राधाकृष्ण की लीलाओं सम्बन्धी ग्रंथों जैसे 'भागवत,' 'सूरसागर' आदि तथा नायक-नायिका भेद सम्बन्धी ग्रंथ जैसे 'रसिकप्रिया', 'बिहारी-सतसई', 'रागरागिनी', 'बारहमासा' का चित्रण विशेष दृष्टव्य है। कृष्णलीला का तो मेवाड़ शैली में विस्तार से अनेक रूपों में चित्रण हुआ है। 'रामायण' भी मेवाड़ स्कूल का प्रमुख आधार ग्रंथ रहा है।

मेवाड़ शैली राजस्थानी चित्रकला की अमर धरोहर है। राजस्थान के जनजीवन, धर्म तथा शान्ति का जीता-जागता स्वरूप मेवाड़ शैली में विशेष रूप से दर्शनीय है। □

मारवाड़ अथवा जोधपुर शैली

श्री सुन्दर मोहन स्वरूप भटनागर

मोहम्मद गोरी द्वारा पराजित होने पर राष्ट्रकूट राजपूत अपना देश कन्नौज छोड़कर चले आये तथा दुर्दान्त घोर रेगिस्तान के बीच उन्होंने अपने राज्य की स्थापना की। यह प्रदेश पहले मरुभूमि तथा कालान्तर में मारवाड़ कहलाया। अरावली पर्वतमाला के पश्चिम में बसा मारवाड़ प्रदेश एक विशाल विषम भूभाग है जो कदाचित् किसी समय सरस्वती नदी सभ्यता का प्रधान केन्द्र माना जाता था।

राष्ट्रकूटों द्वारा राज्य संस्थापन के बाद इस क्षेत्र ने अभूतपूर्व प्रगति की तथा भारतीय संस्कृति की समृद्धि में अपना अपूर्व योगदान किया।

जिसे कलाविद्, जैन, गुर्जर, गुजरात तथा अब अपभ्रंश शैली मानते हैं, वह श्री तारानाथ के कथनानुसार सबसे पहले यहीं जन्मी और परिपोषित हुई। यद्यपि श्री तारानाथ के कथन से अन्य कला समालोचक सहमत नहीं हैं तथा अपभ्रंश शैली का जन्म-स्थल दक्षिण मानते हैं, फिर भी इतना अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि १०वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक मारवाड़ प्रदेश में कलात्मक गतिविधि समुचित रूप से विकसित थी तथा सहस्रों की संख्या में यहां जैन तथा वैष्णव साहित्यिक कृतियों का चित्रण हुआ। इस युग के जितने सचित्र ग्रंथ मिलते हैं, वे एक ऐसी अपभ्रंश शैली के हैं जिसका प्रचलन समस्त पश्चिम भारत में था अतः किसी भी चित्र को विशिष्ट रूप से मारवाड़ प्रदेश का कहना उतना ही दुष्कर है जितना उसे गुजरात प्रदेश का कहना। वैसे इस क्षेत्र से १३वीं शताब्दी के पट काफी संख्या में प्राप्त हुए हैं, जिन पर मारवाड़ शब्द अंकित है।

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि मध्ययुग में समस्त पश्चिमी भारत गुर्जरों के आधीन था।

सातवीं शताब्दी में भारत की राजनीति में काफी उथल-पुथल हुई। मूल्य और मान्यताएँ बदलीं तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भी एक नयी चेतना आयी। इस नूतन चेतना का एक बहुत बड़ा कारण राजनैतिक रङ्गमंच पर मुगलों का आगमन था। मुगलों की फारसी संस्कृति और सभ्यता तथा परिष्कृत रुचि ने स्वदेशी कला परम्परा को एक नया मोड़ दिया। मुगल कला परम्परा तथा स्वदेशी कला परम्परा के समागम से एक नयी शैली का जन्म हुआ जो प्रत्येक प्रदेश में एक नये रूप में विकसित हुई। इस शैली को श्री आनन्दकुमारास्वामी ने राजपूत शैली माना।

मारवाड़ चित्रशैली, जिसका जन्म प्रारम्भिक १७वीं शताब्दी माना जाता है, वस्तुतः मुगल तथा स्थानीय अपभ्रंश शैली के समागम से उत्पन्न एक स्वतन्त्र शैली के रूप में सामने आई। कुमार संग्रामसिंह के संग्रह में सन् १६२३ की निर्मित एक रागमाला चित्रावली है जो कि पाली के प्रसिद्ध वीर विट्ठलदास चम्पावत के लिए चित्रित की गयी थी। मारवाड़ शैली का इससे पूर्व का कोई भी चित्र उपलब्ध नहीं है। अतः यह मान लेना चाहिए कि मारवाड़ शैली का सूत्रपात १७वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में हुआ था। नोडोल में अवस्थित एक जैन मन्दिर में लगभग १६०५ में निर्मित एक भित्तिचित्र उपलब्ध है। इसके पूर्व के अन्य भित्तिचित्र उपलब्ध नहीं हैं।

पाली के रागमाला चित्रों में मारवाड़ की ग्रामीण कला का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि अब भी कहीं-कहीं अपभ्रंश शैली के अवशेष अवश्य दिखाई पड़ते हैं जो कि यह सिद्ध करते हैं कि मारवाड़ शैली का विकास क्रमिक रूप से हुआ तथा नयी शैली मुगल शैली की अनुकृति नहीं वरन् मूलरूप से स्वदेशी थी।

मारवाड़ शैली का दूसरा दौर महाराज जसवन्तसिंह के शासनकाल से आरम्भ होता है। इस समय तक मुगल चित्रशैली का प्रभाव अपने समृद्ध रूप में मारवाड़ चित्रशैली में आ गया था तथा अपभ्रंश शैली का प्रभाव समस्त रूप से समाप्त हो गया था। इस युग के चित्र अधिक सरस तथा प्रखर हैं। इन चित्रों की रेखाएं, भाव भंगिमाएँ तथा रंगात्मकता देखते ही बनती है। किन्हीं-किन्हीं चित्रों में ईरानी कलम का प्रभाव भी है। ऐसा लगता है महाराज जसवन्तसिंह जो कि औरंगजेब के प्रसिद्ध सेनापति थे तथा काफी समय तक काबुल में रहे, उनके साथ मारवाड़ के कुछ कलाकार रहे हों जिन्होंने तबकी शैलियों में कुछ ईरानी तत्वों को समाहित करने का प्रयास किया हो।

महाराज जसवन्तसिंह के बाद मारवाड़ में बड़ी उथल-पुथल रही। आलमगीर ने मारवाड़ हड़पने के लिये अल्पवयस्क अजीतसिंह को आगरा के

किले में रोके रक्खा परन्तु महान् वीर दुर्गादास के अपूर्व साहस के फलस्वरूप अजीतसिंह पुनः जोधपुर लौटकर अपने शस्त्र संभाल सके तथा उनके शासन काल में कला भी काफी फली-फूली। अजीतसिंह के शासन काल के अनेक चित्र उपलब्ध हैं। सन् १७०७ व उसके बाद के बने चित्र संभवतः मारवाड़ शैली के सबसे अधिक सुन्दर तथा प्राणवान् हैं। इन चित्रों के विषय भारतीय साहित्य के अनेक प्रसिद्ध काव्य जैसे कि 'रसिकप्रिया', जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त राज्य दरबार, आखेट, जलसे, जुलूस तथा अन्य सामन्ती विषयों पर भी इन कलाकारों ने चित्र बनाये हैं।

अजीतसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अभयसिंह महान् कलाप्रेमी थे तथा उन्होंने अपने शासनकाल में कला को खूब प्रेरणा दी। राजकीय संरक्षण पाकर कलाकारों ने भी समुचित उत्साह से चित्रों का निर्माण किया। इसी प्रकार महाराज रामसिंह के शासन काल में भी मारवाड़ शैली की परम्परा को और अधिक बल मिला। महाराज रामसिंह के शासन काल में निर्मित चित्रों की अपनी विशेषताएं रहीं। यद्यपि रेखांकन तथा वेशभूषा में थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ। जोधपुर से प्राप्त शबीहों (पोर्ट्रेट) में पुरुष खूब ऊंची पगड़ी, बांधे हुए दिखाये गये हैं कि आश्चर्य होता है। यह पगड़ी किस प्रकार उनके सिर पर टिकी रहती है। इस समय के चित्रों के विषय रागरागनी, बारहमासा गीत गोविन्द, लोक कथायें, आखेट, महिपाल-दरबार इत्यादि हैं।

सन् १८०३ से महाराज मानसिंह के शासन काल में मारवाड़ शैली का अन्तिम महत्वपूर्ण चरण आरम्भ होता है। महाराज मानसिंह स्वयं महान् कलाप्रेमी थे तथा कलाकारों का आदर करते थे। १९ वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारतीय इतिहास का भी नया दौर भी आरम्भ हुआ। पुरानी मान्यता और मर्यादाओं का स्थान नयी मान्यतायें ले रही थीं। साहस, शौर्य तथा जोश की बातें भुलाकर सामन्ती समाज सस्ती विलासिता को स्वीकार करता जा रहा था। यही दुर्भावना इस समय के चित्रों में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

यद्यपि इस समय मारवाड़ शैली के सबसे अधिक चित्र निर्मित हुए तथापि ये अधिकतर चित्र निम्न कोटि के हैं। कला के राजकीय मान को देखकर सामन्तों ने भी कला को प्रोत्साहित किया तथा केवल जोधपुर में ही नही वरन् सारे मारवाड़ में इस युग में चित्र बने—कुचामण, घाणेराय, नागौर, पाली, जालोर, इत्यादि प्रमुख नगरों में चित्रशालायें बनीं तथा सहस्त्रों की संख्या में चित्र बनाये गये।

इस युग के चित्रों को एकदम सीधे रूप से लघुचित्र भी कह सकना कठिन है क्योंकि ये विशालाकार हैं। कई चित्र तो ४ से ६ फीट तक लम्बेचौड़े हैं। केवल तकनीक की दृष्टि से ही उन्हें लघुचित्र कहा जा सकता है।

इन चित्रों में रंगों की विलासिता है तथा कृतित्व का पूर्ण अभाव है। ऐसा सभी चित्रों के विषय में कहा जा सके ऐसी भी बात नहीं है। परन्तु अधिकतर चित्र इसी श्रेणी में आते हैं। इस युग के 'ढोलामारू' लोककथा पर आधारित चित्र मारवाड़ शैली के सुन्दर नमूने हैं।

प्रत्येक युग में राजकीय चित्रशाला में बने चित्रों से ही नयी मान्यताओं का निर्धारण होता था। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कला का अवमूल्यन भी राजकीय चित्रशालाओं से ही हुआ।

मानसिंह के उत्तराधिकारी महाराज तखतसिंह तथा जसवन्तसिंह के शासन काल में मारवाड़ चित्र-शैली एकदम निर्जीव तथा प्राणहीन हो गयी तथा राजकीय संरक्षण परम्परावादी चित्रों से हटकर अंग्रेजी प्रदत्त पश्चिमी शैली को प्राप्त हो गया।

यद्यपि मारवाड़—चित्रशैली किशनगढ़, बीकानेर, जैसलमेर तथा अजमेर शैली की जन्मदात्री है तथापि मारवाड़ शैली में उत्कृष्ट चित्र अभी तक सामने नहीं आये हैं। या तो ये मान लेना चाहिए कि इस शैली में उत्कृष्ट चित्र बने ही नहीं अथवा किन्हीं कारण विशेष से प्रायः नष्ट कर दिये गये, अथवा कहीं दबे पड़े हैं। जोधपुर दरबार के संग्रहालय में भी अधिकतर चित्र महाराज मानसिंह काल के हैं। उसके पूर्वकालीन चित्र कुछ इक्के-दुक्के ही देखने को मिलते हैं।

मारवाड़ शैली के चित्रों के विषय भी मूलरूप से जयपुर, मेवाड़ तथा बूंदी शैली से भिन्न हैं। ऐसा लगता है कि जिस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सूत्रपात बल्लभाचार्य ने किया था उससे मारवाड़ क्षेत्र काफी अछूता रहा। क्योंकि राधाकृष्ण के विषय को लेकर यहां चित्र बहुत कम बने और जो कुछ बने उनका आधार जयदेव का श्रृंगार काव्य गीत 'गोविन्द' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' हैं। मूलरूप से मारवाड़ शैली के चित्रों के विषय प्रचलित लोककथाओं जैसे ढोलामारू, मूमलदे, निहालदे आदि हैं। मारवाड़ के वीरों की शबीहें (प्रोर्ट्रेट) भी समुचित मात्रा में मिलती हैं। अमरसिंह, राठौड़, जुझारजी, डूंगदासजी, पाबूजी, डबूजी, डूंगजी, इत्यादि की बहुत सी शबीहें (पोर्ट्रेट) बनाई गई हैं—कबूतर उड़ाती हुई स्त्री, पेड़ की डाल पकड़ कर झूलती हुई स्त्री इत्यादि। यद्यपि और दरबारी दृश्यों की इस कलम में भरमार है, तथापि इसी प्रकार राग रागनियां और बारहमासा को लेकर काफी संख्या में चित्र बनाये गये हैं।

मारवाड़ शैली का पुरुष लम्बा चौड़ा खूबसूरत होता है जिसकी लम्बी जुल्फें कान के नीचे तक फैली हुई। दाढ़ी मूंछ खूब होती हैं। वह सफेद रंग का गोल जामा पहने हुये बताया जाता है। कमर पर कमरबन्द होता है तथा वह बड़े आकार का सफेद पायजामा पहने होता है।

पुरुषों के अलंकरण भी अन्य शैलियों की भांति ही हैं जिनमें प्रमुख हैं तुर्रा, किलंगी, सरपेंच, जुबदा, बाली, मोती की मालायें, कटार तथा ढ़ाल और तलवार। मारवाड़ शैली के आभूषण अधिकतर मोतियों के ही होते हैं।

पुरुषों के समान ही स्त्रियां भी लम्बी-तगड़ी बतायी गयी हैं। सिर पर बाल काले और घने तथा नितम्बों तक लहराते हुये होते हैं। हाथ लम्बे तथा अंगुलियां खूब पतली तथा लम्बी होती हैं। दोनों हाथों में मेहंदी लगी होती है तथा सिर पर सुन्दर बिन्दी होती है। स्त्रियों की कमर किशनगढ़ शैली की स्त्रियों के विपरीत दिखायी गयी हैं। स्त्रियों की आंखें खंजन पक्षी की भांति हैं।

स्त्रियों की पोशाक में लाल, नीला, पीला, केसरिया, कसूमल रंग का प्रयोग किया गया है। स्त्रियों के मुख्य वस्त्र हैं लहंगा, बसेड़ा, कांचली तथा लूगड़ी। किसी-किसी चित्र में मुगल शैली के प्रभाव के अन्तर्गत स्त्रियां चूड़ीदार पाजामा तथा ऊपर से पतला सफेद जामा पहने भी बतायी गयी हैं। इसी प्रकार किसी चित्र में स्त्रियां लुगड़ी की जगह दुपट्टा पहने हैं। इसी प्रकार किसी चित्र में स्त्रियां सिर पर पगड़ी अथवा टोपी पहने बतायी गयी हैं। स्त्रियों के पैरों में मखमली तथा सुनहरी जूतियां होती हैं।

स्त्रियों के आभूषणों में मोतियों का बाहुल्य है। मुख्य आभूषण हैं, जिनका प्रयोग चित्रों में किया गया है—टीका, टोटी, बाली, बेसर, लूंग, नथ, आढ़, टेवटा, गलसरी, कंठी, हार, माला, लाकेट, भुजबन्ध, इत्यादि। पैरों में जूर, बनड़े तथा पायलों का उपयोग किया गया है।

प्रत्येक शैली की अपनी एक विशेषता होती है जिसमें एक रंगविशेष का बाहुल्य होता है। इस प्रकार मारवाड़ शैली में पीले रंग पर अधिक बल दिया गया है। मारवाड़ चित्रों के हाशियों में भी पीले रंग का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है।

इसी प्रकार मारवाड़ चित्रों में अन्य वृक्षों की अपेक्षा आम के वृक्ष अधिक दर्शाये गये हैं। पशु-पक्षियों में ऊंट, घोड़ा तथा कुत्ता को अधिक चित्रित किया गया है। यहां के चित्रों में बादलों को खूब घने काले रंग में गोलाकार दिखाया गया है। विद्युत रेखाओं को प्राय: समाकार रूप में दर्शाया गया है।

इस शैली के प्रमुख चित्रकार जिनके नाम उपलब्ध हो सके हैं इस प्रकार हैं, वीरजी (१६२३), नारायनदा (१७००), भाटी अमरदास (१७५०), छज्जू भाटी, किशनदास (१८००), भाटी शिवदास, देवदास, जीतमल (१८२५), कालारामू (१८३१) इत्यादि।

यह तालिका किसी तरह पूर्ण नहीं कही जा सकती परन्तु एक प्रतिनिधि चित्र अवश्य प्रस्तुत करती है। □

बूंदी शैली

श्री रामगोपाल विजयवर्गीय

राजस्थान की चित्र परम्परा में बूंदी की चित्रकला का स्थान कलात्मक दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है। इसका कारण प्रथम तो बूंदी की भौगोलिक स्थिति है और द्वितीय राजाओं का कला विषयक प्रेम अथवा राज्याश्रय कहा जा सकता है। इससे भी बड़ा एक कारण है बल्लभ संप्रदाय की धार्मिक प्रवृत्ति, जिसमें कृष्ण लीला की शृंगारिक भावनाओं और वात्सल्य रस को अनेक रूपों में महत्व दिया गया है। इससे चित्रों की विषय-वस्तु तथा प्रसंगों को बड़ा बल मिला है। बूंदी के चित्रकारों ने चित्रों के माध्यम से काव्य समान रसात्मकता प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार काव्य में अलंकार, अर्थ, ध्वनि, छन्द आदि की विशेषताएं हैं, उन्हीं पद चिन्हों पर बूंदी के चित्रों को विधिवत् सजाने का प्रयत्न हुआ है। मन की वेगवती गति को चारों ओर से खींचकर एक अलौकिक रसलोक में पहुँचा देना बूंदी के चित्रों की विशेषता है। रंग, रेखा, संयोजन, औचित्य, स्थान, व्यवस्था, प्रकृति का समुचित अध्ययन, कल्पना तत्व की प्रखरता आदि अनेक गुण हैं, जिनके द्वारा चित्र अपने अलौकिक भाव-विन्यास का परिचय देता है। साथ ही वे शास्त्रीय सिद्धान्त भी उपयोग में लाये गए हैं जिनके द्वारा ऐसी अनुभूतियां सार्थक बनती हैं।

बूंदी की चित्रकला उन शास्त्रीय परम्पराओं की लिपिबद्ध प्रशस्ति है, जिसके मूल में कल्पना की उर्वर और तीव्र अनुभूतियां संजोई गई हैं। केवल रेखाओं से द्वारा रस की भारवाही विभूति को उजागर कर देना एक कौशल है, एक चमत्कार है। मूक रेखा किस प्रकार अर्थ के धरातल

पर उतर कर भाव बोध कराने लगती है, इस सत्य के औचित्य का ज्ञान उसी अवस्था में सम्भव होगा जब दृष्टिज्ञान की विधाओं को सिद्ध किया जा चुका हो; अन्यथा रस की रूपात्मकता को ग्रहण कर लेना सम्भव नहीं हो। बूंदी शैली के चित्रों की रेखाएं अति कोमल लावण्यमयी और गतिशील होती हैं। इनमें भाव-विधियां छिपी पड़ी हैं, इन्हें निकाल कर इनके रस वैभव का आस्वादन करना भी एक कला है।

बूंदी कला-चित्रों की रेखाएं सर्व प्रथम गोलाकार और भुजंग वाली विधियों से अंकित की जाती हैं इनमें चित्रकार के अध्ययन, अभ्यास और कौशल का चमत्कार होता है। किस प्रकार उन संक्षिप्त संकेतों को विषद् रूप देना है—यह चित्रकार की प्रतिभा और ज्ञान गरिमा का द्योतक है। सुख की रेखा का एक वृत्त, गति सौन्दर्य की एक वेगवती रेखा जो तूलिका निक्षेप की एक प्रच्छन्न भंगिमा मात्र होती है, वस्त्रों को फहराती हुई विद्युत्-विलास-वाहिनी के समान संकेतों को उकेरती जाती है, अत्यंत दर्शनीय होती है। मेघों, वृक्षों, जल प्रवाह एवं कमल दल मालाओं की सांकेतिक और तूलिका प्रक्षेप से उभरी हुई ध्वनियां होती हैं, जिन्हें चित्र-लेखक पहिचानता है, उनका रस-विन्यास करने की क्षमता उत्पन्न करने लगता है जैसे समस्त अर्थ उजागर हो उठे हों, जो अब तक संकेतों में सोये पड़े थे।

इस शैली का उद्भव एवं विकास राजस्थान के दक्षिण पश्चिम में कोटा से बीस मील दूर बूंदी की छोटी सी रियासत में हुआ, जो पर्याप्त ऐतिहासिक महत्व का स्थान रहा है। यहाँ के राजाओं की वीरता, न्याय-प्रियता, तथा राष्ट्रप्रेम सर्वत्र आदर की दृष्टि से देखा जाता है। बूंदी के राजाओं ने कविता, कला, संगीत तथा शस्त्र विद्या में पर्याप्त उन्नति की थी उसके उदाहरण आज तक दृष्टिगोचर होते हैं। राजस्थानी लघु चित्रकला की चरमोन्नति यहाँ के राजाओं के आश्रय में हुई। इसके प्रमाण यहाँ के सरस्वती भण्डार में सुरक्षित वे आलेखन हैं जो कला के क्षेत्र में अपनी समानता नहीं रखते। इनकी शैली, भावचित्रण विशेष मर्यादा का द्योतक है। बूँदी में अन्य प्रान्तों की भाँति मुगल चित्रों की नकल नहीं की गई वरन् मौलिक कल्पना – शैली का आश्रय लिया गया है।

केवल एक दो को छोड़ यहाँ के राजा, प्रायः चित्रकला के पारखी और प्रेमी हुए हैं। इस राज्य की स्थापना सम्वत् १३९८ में राव देवाजी ने की, जो बड़े ही वीर और पराक्रमी थे। इनके पश्चात् के राजा भी वीरता की दृष्टि से तथा कला–प्रेम के विचार से अद्वितीय रहे। राजा रामसिंह जो सन् १८२१ में पैदा हुए, चित्रकला के प्रेमी थे। इन्होंने कितने ही चित्र बनवाये तथा कलाकारों को अपनी स्वतन्त्र रचनाओं को चित्रमय

बनाने के लिये प्रोत्साहन दिया। राव गोपीनाथ, छत्रसाल, बिशनसिंह आदि बून्दी के और भी राजा कला की उन्नति में सहायक हुए।

बूंदी के चित्रों में राजस्थानी संस्कृति का विकास पूर्ण रूप से दृष्टिगत होता है। ये चित्र राजपूतों की वीरता से लेकर उस विलास-प्रियता के प्रतीक हैं, जब शृङ्गार और वीर रस कन्धा मिला कर राजस्थान की उन गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में निवास करते थे, जिनके भव्य रूप आज भी अपनी गौरव की कहानी अपने ललाट पर लिखे हुए हैं। बूंदी राजस्थान लघुचित्र कला-कृतियों का केन्द्र है, इसका श्रेय यहाँ के स्वतन्त्रताप्रिय राजाओं को है, जिन्होंने किसी भी संस्कृति से प्रभावित होकर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ा, अपने कला कौशल पर अन्य प्रभाव नहीं आने दिया।

नायिका भेद के चित्रों में यहां के चित्रकारों ने बड़ी कुशलता दिखलाई है तथा कल्पना को इतना विस्तार दिया है कि विषय का प्रत्येक पक्ष स्पष्ट करके दिखाया है। सजावट, रंगों की विविधता और चित्र का वातावरण विषय की प्रधानता को पीछे छोड़ कर आगे निकल आता है। दर्शक रंगों और रेखाओं का ऐसा प्रदर्शन दृष्टि के सम्मुख पाता है कि चित्र का आशय क्या है, अर्थ क्या है, भूल जाता है। छोटे-छोटे द्रुम, कुसुम और कलियों के सुवर्ण से चित्रित एक-एक प्रकरण अपनी विशेषता को पृथक-पृथक सीमाओं में विभाजित कर लेते हैं और फिर उनका सामूहिक रूप अत्यन्त मोहक बन जाता है। कृष्ण-राधा की प्रेम लीला के आधार पर ही नायिका भेद के चित्र बनते हैं, पर उनकी विशेषता साहित्यक दृष्टिकोण से बड़ी सरस हो जाती है। बहुत ही चटकीले रंगों से इन चित्रों का आलेखन होने पर भी कोई रंग दृष्टि को दोषपूर्ण या कठोर नहीं दिखलाई पड़ता। सब कुछ मिल कर सौन्दर्य का ऐसा प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं कि दर्शक मुग्ध होकर चित्र को पुन: पुन: देखने के लिए बाध्य हो उठता है।

सौन्दर्य भी वही उत्कृष्ट है जो कि निरन्तर देखने पर भी अभिनव बना रहे, उससे अरुचि न हो। बूंदी के चित्रों में शिकार, सवारी, उत्सव और वे सामयिक दृश्य भी अंकित मिलते हैं जो तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का परिचय देते हैं। राजाओं की इच्छा के अनुकूल जो चित्र बने हैं, वे प्राय: शिकार, दरबार और उत्सव आदि के चित्र हैं। पर जो चित्रकारों ने स्वान्त: सुखाय बनाये हैं वे अपनी मौलिकता और कलाकार के हृदय में छिपे, भाव जगत के प्रतीक चित्र हैं। बूंदी में भी बल्लभ कुल सम्प्रदाय की प्रधानता रही है। यहां के राजाओं ने बल्लभीय भक्ति-मार्ग को अपनाया है, जिसके फलस्वरूप यहां की चित्रकला में वह उत्कृष्टता आई है जो राजस्थान में अन्यत्र नहीं देखी जाती। भक्त राजाओं ने कृष्ण रास की लीलाओं के भेदों को देखने में अपनी आत्मा का कल्याण समझा।

यही उक्त धर्म की उपासना-विधि का एक अंग है। भगवान की लीलाओं के चिन्तन का यह बहुत ही सरल मार्ग है। इसमें मन को अरुचि भी नहीं होती। इसके अतिरिक्त जिन राजाओं को कविता से प्रेम था, उन्होंने अपनी मनवांछित कविताओं के भाव चित्रकारों से चित्रित करवाये। रीति कालीन कवियों की परम्परा से भी चित्रकारों को बल मिला और वे स्वतः भी उन्हीं विचारों के समर्थक बने जो उस काल में सर्वत्र एक रूप, एक भाव रूप में, जन-जन के हृदय में विद्यमान थे। राग-रागनियों के चित्रों की अगणित प्रतिलिपियां होकर घर-घर में पहुंचीं, तथा चित्रित कविताएं जो भावों को अधिक साकार करती थीं, जन-जन की प्रिय बन गईं। इस व्यसन से कला को प्रोत्साहन मिला और वह इतनी व्यापक बन गई कि कोई भी घर चित्रों से शून्य नहीं रहा।

कृष्ण लीला की कुछ ऐसी कृतियां भी चित्रकारों की तूलिका से निखरीं जो किसी कविता के आधार पर न होते हुए भी स्वयं कविता का विषय थीं। बूंदी का चित्रकार भावुक भी इतना था कि उसने कल्पना के वे जादू भरे दृश्य अंकित किये जिन्हें देखकर आज का कलाकार उनकी मार्मिक दृष्टि और सरसता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। सूरदास और केशवदास के वर्णन भी इन आलेखनों के सम्मुख कभी-कभी फीके पड़ जाते हैं। बूंदी के चित्रों में कविता और कला दोनों का मिश्रण पाया जाता है। एक साहित्यिक भाव के चित्र का उदाहरण द्रष्टव्य है: चाँदनी रात की रजत प्रकाशमाला चारों ओर छाई है। दो चार गायें पाँवों में मुख छिपाये नींद ले रही हैं। उन्हीं के साथ एक दो बछड़े निद्रा में लीन दिखलाये गये हैं। वृक्षों की कुसुमावृत डालियाँ पवन की धीमी गति से हिल-डुल रही हैं। एक बड़ा सा भवन चित्र के पार्श्व में खड़ा है जिसके वातायन खुले आकाश की ओर हैं। राधारानी कृष्ण का वेष बनाकर मुरली अधरों पर धारण किये तथा मोर मुकट शीश पर सजाये भवन के द्वार से निकल कर आ रही हैं। उनकी लावण्यमयी गति, अलौकिक माधुर्य की छटा से प्रकाशमान मुखश्री दर्शक की दृष्टि को धन्य कर देती है। उनकी मुरली का स्वर मानो बाहर खड़ी उनकी सखियों को आगमन का संकेत कर रहा है। नूपुर ध्वनि से वातावरण मानो मादक हुआ जा रहा है। एक सखी हाथ में मशाल लिये खड़ी है। दो तीन मृदङ्ग और मञ्जीरे हाथों में लिये हैं। सम्भवतः रात्रि का समय अर्ध हो चुका है। रास के प्रारम्भ की प्रतीक्षा में सखियाँ राधा का पथ निहार रही हैं। कृष्ण बृज को छोड़ कर चले गये हैं, उनकी अनुपस्थिति तथा वियोग-व्यथा में यह अनुकरण स्मृतियों के रूप में किया जा रहा है। वे राधा-कृष्ण बन कर रास रचायेंगी और फिर विरह की अश्रुधारायें मुरली के एक-एक स्वर पर अपना सिर टकरायेंगी। एक-एक ताल पर हृदय की अवरुद्ध व्यथा में उन्मादिनी सी होकर बृज की रेणु से

अपना आलिङ्गन करेंगी। चित्र से निकलती यह ध्वनि बहुत ही स्पष्ट जान पड़ती है, जो चित्रकार के इसी मृदुल चिन्तन का उदाहरण है। इसी प्रकार एक चित्र में राधा कृष्ण का रूप धारे कृष्ण के ही सम्मुख राधा को अपनी प्रेयसी बता रही है। कृष्ण अपने प्रतिद्वन्द्वी को ईर्ष्या के भाव से देख रहे हैं। ऐसे अनेक चित्रण, अनेक भावनायें यहाँ के चित्रकारों की कृतियाँ हैं जो कल्पना की मधुरतम अभिव्यक्ति की परिचायक हैं। यही भावनाएं लम्बे कथानकों को चित्रित करने में बड़ा कौशल दिखलाती हैं। मधुमालती, सावलिङ्गा, सदाव्रत, गीत-गोविन्द, तथा केशव की कविताएं इनके प्रिय विषय हैं। इसके अतिरिक्त राजसी वैभव दर्शाना भी इनका एक विषय है जिसमें दर्पण देखती सुन्दरी, चकरी से क्रीड़ा करती किशोरी, पुष्प चयन करती युवती तथा राजा-रानियों की विलास-क्रीड़ा का चित्रण प्रधान रहा है।

बूंदी के रेखाचित्र रंगों को सहायता भी नहीं चाहते। वे रेखाओं में ही बोल उठते हैं और दर्शक को अपने-अर्थ गौरव का परिचय देने लगते हैं। रेखाओं पर ऐसा एकाधिकार बूंदी के चित्रकारों का था। वे रेखाओं से ही अभिव्यक्तियों का प्रस्तुतीकरण कर लेते थे। लताकुंज, पशु-पक्षी, द्रुम-बल्लियां सब कुछ रेखाओं के माध्यम से ही सार्थक किये जाते रहे हैं।

रंगों की संगति में कलात्मक संयोजन भी आवश्यक हो जाता है। क्रमिक गति और प्रसंगों का सम्पुंजन भी रेखाओं द्वारा दिखाते हुए चित्रकार पूर्णता की प्रतीक्षा में, कुछ ऐसे परिच्छेद जोड़ता जाता है जो चित्र की सौन्दर्य श्री को और अधिक मुखर कर सके। अलंकार, मोतियों की बिन्दु मालाएं, सुवर्ण की रेखाओं के क्रमिक विक्षेप चित्र को माधुर्य की संज्ञा से अभिहित करने में समर्थ सिद्ध हुए हैं।

चित्र की समाप्ति तक पहुंचते-पहुँचते चित्रकार अनेक बार अपने कौशल को निहारता है। पुनः निहारता है और आत्म संतुष्टि की सांस लेकर चित्र के कवित्व में खो जाता है। यह तो चित्र का श्रमसाध्य रूप हुआ। पर दर्शक क्या देखता है और अपने आप में किस प्रकार की अनुभूतियों को ग्रहणकरता है, यह चित्र के विषय और प्रभावोत्पादक प्रसंग पर निर्भर करता है।

इन चित्रों की आकृतियाँ साधारण लम्बी, शरीर पतले और स्फूर्ति से भरे रहते हैं। स्त्रियों की मुखाकृति में अधरों की छटा विचित्र प्रकार का सौन्दर्य दिखलाती है। अधर इतने अरुण रहते हैं कि वे एक काली पतली रेखा से विभाजित किये जाते हैं। अधरों की रेखा के अन्त में सारी

रुअरुणिमा घनीभूत सी हो जाती है। नेत्र, अर्धविकसित, नीचे और ऊपर एक रेखा के गोलार्ध में घनी कालिमा के साथ चित्रित रहते हैं। नेत्रों में भाव प्रायः एक जैसा तथा अधरों पर हास की छटा दिखाई जाती है। भ्रू-प्रदेश घना, प्रायः सीधा या किञ्चित भुका हुआ होता है। नासिका साधारणतया छोटी, मुख गोलाकृति और चिबुक पीछे की ओर भुकी, छोटी होती है। ग्रीवा भी अधिक लम्बी नहीं, छोटी और अलंकारों से आच्छादित रहती है। बाहु लतायें लम्बी, कराग्र तथा अंगुलियां मेहंदी की लालिमा से अत्यधिक चित्रित रहती है। वक्ष आगे निकला हुआ तथा कंचुकी से कसा हुआ। कटि क्षीण, उदर खिंचा हुआ और पतला होता है।

वस्त्रों में सुवर्ण के आलेखन इतने भीने एवं पारदर्शक बनाये जाते हैं कि शरीर निरावरण सा दिखलाई देता है। काले रंग के लवंगे, लाल चुनरी और धवल कंचुकी प्रायः देखी जाती है। वेणी पृष्ठ भाग से नीचे तक भूलती जिसमें तीन या एक फुंदना लटकता रहता है। अलकावलियां उड़ती हुई कभी कपोलों पर और कभी ग्रीवा के नीचे तक आ जाती हैं। अलंकारों में बाहुओं के नीचे तक भूलते सुनहरी भुमके, अंगुलियों में हाथफूल, ललाट तक नीचे लटकती जड़ाऊ बिन्दी, नाक में छोटे छोटे मोती कपोलों पर चिपके से दिखलाये जाते हैं। स्फूर्ति से भरो भावभंगिमा यौवन को प्रदर्शित करते प्रत्येक अङ्ग तथा सौन्दर्य को प्रकट करते मुख के सरलता भरे भाव मनमोहक होते हैं।

पुरुषों की आकृति में नीचे की ओर भुकी पगड़ियां, लम्बे घुटने तक या उससे भी नीचे जामे, कमर में दुपट्टा तथा पाँवों में चुस्त पाजामा रहता है। जामे के पारदर्शक होने से कञ्चुकी जैसा केवल वक्ष को ढंकता एक वस्त्र रहता है जो प्रायः पीला होता है। सम्भव है इस प्रकार का कोई वस्त्र उस काल में रहा हो। कानों में मोती, कपोलों तक नीचे उतरती जुल्फें, पुरुषत्व को प्रदर्शित करता भरा हुआ मुख, बड़ी मूँछें तथा राजसी वेष-भूषा से सज्जित बनाव रहते हैं। ललाट कुछ गोलाकार, अधर स्त्रियों जैसे ही अरुण या कभी-कभी हलकी अरुणिमा से युक्त रहते हैं, चिबुक छोटी तथा नेत्रों के भाव एक जैसे होते हैं। कुसुमों की मालाएं, मोतियों के हार तथा कितने हो जड़ाऊ अलंकार पुरुषों के शरीर पर भी दिखाये जाते हैं।

चित्रों के विषय राग रागनियां, नायिका भेद, ऋतु, मास, तथा कृष्ण लीला के भेद होते हैं। वर्षा ऋतु के चित्रों में मस्त होते हुये गज यूथ, आकाश में काले बादल, सारे आकाश को घेरे विद्युत्-लता, बगुलियों की पंक्तियां, चातक और कुहुकते हुए मयूर बनाये जाते हैं, तत्काल बरसते हुए लहराते सरिता प्रवाह, किनारों पर टूटे हुए वृक्ष, अनेक प्रकार के लता-गुल्म तथा शैल-शिखरों पर विचरते सिंह दिखलाये जाते हैं। किसी ऊंचे भवन के वातायन से वर्षा के वैभव को देखते नायक-नायिका और

वर्षा की पहली बूँदों को स्वर्ण पात्र में एकत्रित करती नवोढ़ा होती है। वर्षा के चित्र में काला और नीला रंग अधिकता से प्रयोग में लाया जाता है तथा बरसते हुए बादल दिखाने के लिए वृष्टि बिन्दुओं की अवलियां सारे चित्र में प्रमुख रहती हैं। किसी किसी चित्र में मस्त हाथी किसी तरुमूल को उखाड़ता हुआ भी दिखाया जाता है।

ग्रीष्म के चित्रों में आकाश के बीचोंबीच तपता सूर्य, वृक्षों की छाया में बैठे शिकारी, कुओं पर पानी पीते पथिक तथा जिह्वा लपलपाते प्यास से घबराये शृगाल, हरिण और जंगली भैंसे चित्रित रहते हैं। प्रेमी मिथुन फव्वारों के निकट बैठे वायु सेवन करते हुए तथा कुसुम शैयाओं पर लेटे हुए दिखते हैं। सर्प, मयूर पुच्छ के नीचे आश्रय ले रहा है। मृग शावक और सिंह के बच्चे एक ही वृक्ष की डाली के नीचे आतप से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं। कवि की उक्ति के अनुसार सारा वन तपोवन होगया है। एक प्राणी दूसरे से बैर भाव भूल कर केवल छाया की प्राप्ति के लिये व्याकुल है। सूखे वृक्ष, जली हुई डालियां, कीचड़ भी शेष नहीं, ऐसे सूखे सरोवर, झुलसी हुई भूमि और तपी हुई बालू, पीले रंग की प्रधानता दिखा कर ग्रीष्म ऋतु के चित्रों को इस शैली में प्रभावोत्पादक बना दिया जाता है।

इसी प्रकार शीत के चित्रण में एक ही वस्त्र ओढ़ कर आलिङ्गन किये नायक-नायिका, कुमुदिनियों से आच्छादित सरोवर, अपनी तृण कुटीरों में शीत से बचने के लिए आग जला कर बैठे किसान चित्रित होते हैं। पकवान बनाती स्त्रियां, भिक्षा को निकले ब्राह्मण तथा कोटरों में छिपे पक्षी भी बनाये जाते हैं। धनुष-बाण को छोड़ कर अपनी प्रियाओं के साथ शयन करते शिकारी, और पतझड़ से नग्न हुई वृक्षों की डालियां तथा धुँधले आकाश में श्वेत नीलिमा लिये रंग की प्रधानता को अंकित किया जाता है।

होली के चित्रों में हाथी पर बैठे दरबारी तथा राजा चित्रित होते हैं। वातायनों तथा भवनों की छतों से पिचकारियाँ मारती अनेकों युवतियाँ दिखाई जाती हैं। इन युवतियों का चित्रण चित्रकला की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक और भाववाही होता है। रसिकजनों की आँखें इन युवती-वृन्दों के मुखों पर मंडराती और इनकी रूप माधुरी को पान करने को लालायित चित्रित की जाती हैं। डफ, मृदङ्ग और मंजीरे बजाते पुरुषों का समूह, बैलों पर रंग का पानी लादे भिश्ती, गुलालगोट फैंकते जन साधारण और मस्ती तथा उल्लास भरे दृश्य अंकित किये जाते हैं। बूँदी का चित्रकार प्रत्येक विषय को इतना भावमय और कौतुहलपूर्ण बनाता है कि उसकी कल्पना के प्रौढ़ सृजन की सबलता का परिचय एक ही दृष्टि में मिल जाता है। छाया-प्रकाश का संयोजन, आकृतियों की व्यवस्था और पृष्ठभूमि की विविधता चित्रकार के कौशल की साक्षी दे देती है। बूँदी के चित्रों में हाशिये

इतने चमकदार रहते हैं कि वे प्रकाश में तुरन्त चमचमा उठते हैं। कल्पना की कोमलता रंगों का बाहुल्य तथा उनकी लय दृष्टि को मदहोश बनाने लगती है। आकृतियों में भाव न होते हुए भी सजीवता की पराकाष्ठा रहती है, भाव नेत्रों द्वारा न दिखला कर मुद्राओं और भंगिमा से प्रदर्शित किये जाते हैं। पक्षियों के आलेखन बहुत ही सरस और उपयुक्त बनाये जाते हैं। सारा चित्र जैसे विविध दृश्यों और भावनाओं का संकलन बनकर पृथक-पृथक रसों की सृष्टि करता हुआ अपने अभिप्राय को लक्ष करता है।

इसके बाद रंगों की जमावट का अवसर आता है। बून्दी का चित्रकार तद्-विषयक रंगों को स्थान-स्थान पर उनकी संगति के अनुकूल लेपन करता आता है। इस प्रकार के तीन या चार लेप एक के ऊपर एक कर लेने के पश्चात् रंगों को अच्छी प्रकार से चिकना बना कर समतल कर लिया जाता है, और तब वही रेखायें जो रंगों से दब चुकी हैं, या कुछ दिखलाई पड़ रही हैं उन्हें पुनः रंगों से भरी तूलिका द्वारा किया, कोरा जाता है। रंगों पर रेखाओं को पुरूपायित करना बड़ा ही क्लिष्ट और अभ्यास-संगत कार्य है, क्योंकि रेखाओं के सभी पूर्व संकेत रंगों से आच्छादित हो जाते हैं। एक तूलिका की रेखा ही जो दृढ़ अभ्यास की प्रतीक होती है, इन स्निग्ध हुए रंगों पर चल पाती है। कहीं भी चूक जाना, कहीं भी रेखा की एकरसता को खो देना, दोष माना जाता है।

बूंदी के चित्र लाल हिंगुल के चमकदार हाशियों सहित बाहर और भीतर सुवर्ण रेखाओं से सीमित हैं। इनका प्रथम आकर्षण है आकाश, जिसमें सोने का आलेपन और बीच बीच में सिन्दूरी रंग के बादलों की गोलाकार रेखायें, तथा उसके ऊपर की सीमा तक अत्यन्त नीलाभ दिखाया जाता है। विविध पक्षियों की अवलियां और ऊपर तक लहराती वृक्षों की पल्लवित डालियां रहती हैं। इन डालियों में भी कलरव करते पक्षी, कूकते हुए मयूर, उछलते हुए बन्दर, दौड़ती गिलहरियां तथा फलों को कुतरते शुक चित्रित रहते हैं। केलों के कुंज से ढंके भवनों के कलेवर जैसे छिप-छिप कर झांकते हैं। पर्दों से ढंके द्वार जैसे कुछ कहने के लिए प्रस्तुत सदा रहते हैं। पत्तों के बीच-बीच की रेखायें सुवर्ण से चित्रित होती हैं। इनमें लाली लिये किसलय, गुच्छों में एकत्रित झूलती कुसुम मञ्जरियां अपनी अनोखी छटा दिखाती रहती हैं। मयूरों को पंखों में मुख छिपाये अथवा नाचते हुए दिखाते हैं। बूंदी छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इसलिए मयूरों की अधिकता स्वाभाविक है। सरोवर, जो कमलों से भरे रहते हैं, प्रत्येक चित्र में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलते हैं। सरोवर में क्रीड़ा करते पक्षी, किनारे पर खड़े सारस, मिथुन तथा भवनों में पालतू मृग, शुकों के पिंजरे, ऊंचे अंकों पर बैठे कबूतर भी होते हैं। भवनों की निर्माण कला बूंदी की ऐसी विशेषता है जो अपने आप प्रकट हो जाती है। यहां के भवन जैसे चित्रों में हैं तद्रूप ही वहाँ विद्यमान हैं। इनकी शोभा समय के

परिवर्तन ने छीन ली है पर हम अपनी कल्पना को इनके वैभव काल तक उड़ाकर ले जायें तो प्रतीत होगा किसी स्वप्न की दुनियां में विचर रहे हैं। आकाश की ओर उठे शिखरों के सुवर्ण कलश, छज्जों के नीचे से अपना सौन्दर्य बिखेरते वातायन छोटी-छोटी लाल पत्थर की विविध बेल-बूटों से काटी गयी जालियां, उस पर रेशमी परदों से ढंके वातायन, भवन निर्माण कला के अद्वितीय उदाहरण हैं। वैभव कल्पना के पंख लगाकर चित्रों में अवतरित हुआ है, जो अपने सौन्दर्य की छटा अनेक प्रकार से स्पष्ट करने के लिए आतुर है। कल्पना में साहित्य का पुट इतना अधिक है कि प्रत्येक चित्रण आदर्श के रूप में सम्मुख आता है। सारे चित्र में सुवर्ण तथा रजत के आलेखन चित्र को जगमगा देते हैं। उस पर हाशियों की चमक भी सहयोग देती रहती है।

नीला अर्थात् लाजवर्दी रंग इतनी सुन्दरता से इन चित्रों में प्रयुक्त किया गया है कि सुवर्ण–जटित नीलम सी छटा उत्पन्न हो जाती है। नीला रंग इतना प्रभावोत्पादक हो जाता है कि चित्र का प्रधान विषय अधिक स्पष्ट होकर एक अनुपम छटा उत्पन्न करता है। श्वेत रंग भवनों के चित्रण में प्रयुक्त किया गया है जिस पर विविध आलेखन रहते हैं। भवनों के बीच में उछलते फव्वारे, खश की टट्टियां और विविध रंग के बिछौने वैभव को प्रतिलक्षित करते रहते हैं।

सामान्यतः नारी सौन्दर्य ही चित्रकारों को प्रिय होता है। अस्तु नखशिख, भूषण-आभूषण, अंग-सौष्ठव, भंगिमाएं, लावण्य और माधुर्य रस का प्रभाव दर्शक को उत्तेजित करता है। इसी प्रकार के भाव सृष्टि और उद्दीपन विभाव प्रसंग को सबल बनाते हैं। चित्रकार का ज्ञान केवल नारी आकृति तक ही सीमित नहीं होता, उसके लिए परकीया प्रेम की समस्त अवस्थाओं का ज्ञान तथा उसके विभिन्न अंगों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक होता है।

बूंदी के चित्रों में प्राय: विरहोत्कंठा राधा के रूप को ही अधिक प्रकाशित किया गया है। इसके साथ-साथ अनेक उद्दीपन विभाओं की तालिकाएं भी संजोई गई हैं। यदि बूंदी का चित्र मर्मज्ञता के लिए रक्खा जाय तो चित्र के अनेक आशय ऐसे हैं जो दर्शक के ज्ञान की परीक्षा लेने पर उतारू हो जाते हैं। वे प्रायः वर्तमान संस्कृति को चुनौती देते हुए लगते हैं। सौन्दर्य तत्व या कलात्मक बोध के क्षेत्र में बूंदी की चित्रकला ने इसीलिए राजस्थानी लघुचित्र कला में अपना स्वतंत्र एवं अद्वितीय स्थान बनाया है। □

जैसलमेर शैली

श्री दीनदयाल श्रोझा

राजस्थानी चित्रकला की जिन विभिन्न शैलियों का विद्वानों ने नामोल्लेख किया है, उनमें जैसलमेर चित्रशैली का भी विशिष्ट स्थान है। यद्यपि आज जैसलमेर शैली के चित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं, फिर भी प्राप्त चित्रकला की दृष्टि से वे अतीव महत्वपूर्ण और मूल्यवान हैं। राजस्थान के अन्य भागों में चित्रकला के अनेक ज्ञाता निवास कर रहे हैं और उन्हें अपने-अपने क्षेत्र में चित्रों की शोध करने में, परिचय देने में तथा उन चित्रों के फोटो लेने में भी विभिन्न संस्थाओं से पूर्ण सहयोग मिल जाता है। परन्तु जैसलमेर में एक भी संस्था न होने और आस पास के क्षेत्रों की संस्थाओं का उक्त क्षेत्र की ओर ध्यान न होने के कारण वहाँ का हस्तलिखित साहित्य और कलापूर्ण चित्र नष्ट हो रहे हैं। इस समय जो चित्र उपलब्ध होते हैं अथवा चित्रकला मर्मज्ञों के पास उक्त शैली के चित्र हैं भी तो उनका परिचय सामने नहीं आ पाया है।

जैसलमेर में पर्याप्त चित्र यहां के कलानुरागियों के घरों में देखने को मिलते हैं। रंग, आकृति और भाव विधान की दृष्टि से ये चित्र राजस्थान के अन्य क्षेत्रों के चित्रों से भिन्न, सुन्दर, कलापूर्ण और सजीव हैं। श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार जैसलमेर चित्र शैली जोधपुर चित्र शैली का ही एक अंग है। चित्रकला के मर्मज्ञ श्री रामगोपाल विजयवर्गीय ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी चित्रकला' में जैसलमेर चित्रशैली के सम्बन्ध में लिखा है वह भी दृष्टव्य है। वे लिखते हैं: 'यद्यपि उत्तरी राजस्थान में जोधपुर की चित्रकला ही प्रधान और व्यापक है, तथापि जैसलमेर के चित्रकारों ने रेखाओं के

लालित्य में जैसी दक्षता दिखाई है वैसी राजस्थान के किसी प्रान्त में नहीं पाई जाती। जैसलमेर के कलाविदों ने मुगल कला का प्रभाव अपने पर नहीं आने दिया, न किसी के अनुकरण की चेष्टा की। जोधपुर निकट होने के बावजूद जोधपुर शैली यहां के चित्रों को प्रभावित नहीं कर सकी है। अपना ही अनोखापन इन चित्रों में विद्यमान है।

जैसलमेर के कलानुरागी अधिशासकों के देहावसान के पश्चात् न तो यहां पर किसी तरह का संग्रहालय बन सका और न चित्रकला मर्मज्ञों का विशेष आवागमन ही रहा। फलस्वरूप जैसलमेर शैली के चित्रों का एक स्थान पर संग्रह आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है। थोड़े बहुत चित्र जो इन प्रासादों, मोहल्लों की हवेलियों, पटुवों की हवेलियों आदि स्थानों और स्वतन्त्र रूप से विभिन्न व्यक्तियों के पास उपलब्ध हैं उन्हीं का सहारा लेकर जैसलमेर शैली के चित्रों का मूल्यांकन किया जाता रहा है।

स्थापत्य और प्रस्तर कला की दृष्टि से दर्शनीय जैसलमेर दुर्ग के राजप्रासादों एवं भव्य भवनों में लगे जैसलमेर शैली के चित्र बड़े सुन्दर, कलापूर्ण और प्रभावोत्पादक हैं। भावाभिव्यक्ति को दृष्टि से ये चित्र पूर्ण सजीव और मूल्यवान हैं। रंग, फूल, पत्र, वृक्ष, मुखाकृति, भवनों आदि के आलेखन में जैसलमेर शैली पर जोधपुर, कांगड़ा अथवा मुगल शैली का जो प्रभाव है, वह बहुत न्यून रूप में दिखाई देता है। जैसलमेर शैली के चित्र राजस्थान के अन्यान्य भागों के चित्रों से विचित्र और मौलिकता लिए हुए हैं। इस शैली के चित्रों में पुरुषों के मुख पर दाढ़ो, मूंछों की नीलिमा, तथा मुखाकृति ओज और वीरता से परिपूर्ण दिखाई गई है। सिर पर बंधी पगड़ियां विशेष प्रकार से बंधी हुई और पीछे की ओर अधिक झुकी दिखाई गई हैं। शरीर तने हुए और शक्तिशाली चित्रित किये गये हैं जो यहां की वीर भावनाओं के परिचायक हैं।

नारी चित्रों में स्त्रियों के मुख खिंचे हुए यौवन की दीप्ति से परिपूर्ण, सुन्दर और कलापूर्ण हैं। नेत्रों को अंगों के अनुपात से चित्रित किया है न कि कल्पना के आधार पर। बनावट की दृष्टि से जिन्हें तीखे एवं रस भरे कह सकते हैं। अंगुलियों की बनावट आकर्षक और विशिष्टता लिये हुए है।

राग रागिनियों के चित्रों में भी जैसलमेर शैली अपनी विशेषता रखती है। उदाहरणार्थ अन्यान्य भागों का चित्रकार मालकोष राग को राजा के रूप में चित्रित करता है परन्तु जैसलमेर शैली के चित्रों में उक्त रागिनी को शिकारी के रूप में बड़ी ही सजीवता के साथ अंकित किया गया है।

जैसलमेर शैली के चित्रों में रंगों का बाहुल्य न होकर कला तत्व का बाहुल्य विशेष देखने को मिलता है। यहां के चित्रकारों ने कला के बाह्य

पक्ष की ओर अधिक ध्यान न देकर उसके आंतरिक पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया है। यही कारण है कि स्वल्प रंगों के माध्यम से यहां के कलाकारों ने बड़ी ही सजीवता के साथ विविध चित्र बनाये, जो आज राजस्थानी चित्रकला में रंग विधान, सजीवता और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अपना अलग स्थान रखते हैं।

जैसलमेर शैली के चित्र जितनी भी मात्रा में देखने को मिलते हैं इनमें उन कलाकारों का नाम नहीं है जिन्होंने उन चित्रों का निर्माण किया है। परन्तु जिन महारावलों की अधीनता अथवा शासनकाल में चित्रकला का विकास हुआ उनमें महारावल हरराज, अखैसिंह और मूलराज विशेष उल्लेखनीय हैं। उक्त महारावलों को कला से अधिक अनुराग था और इनके दराबर में अच्छे कवि विविध विषयों के ज्ञाता रहते थे। जो हो, इतना निर्विवाद है कि जैसलमेर चित्रशैली का राजस्थानी चित्रकला में अपना विशिष्ट स्थान है। □
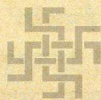
कोटा शैली

श्री रामचरण शर्मा 'व्याकुल'

संतुलित रंगों से लिपटकर रेखाओं की गतिमयता जिस दृश्यमान भाव सौन्दर्य को जन्म देती है उसे चित्र अथवा आलेख नाम से अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार साहित्य अपने समय का दर्पण कहलाता है और समय विशेष की संस्कृति को प्रतिबिम्बत करता है उसी प्रकार चित्र-कला के माध्यम से चित्रकार अपने समय के दृश्यमान भाव जगत को कैन-वास [सतह पर] उतार कर विभिन्न शैलियों के द्वारा तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिस्थितियों का आकलन प्रस्तुत करता है।

भावों की गहनता और विशिष्टता, विषयानुकूल अंकन तथा चयन की सुघड़ता, सौन्दर्य एवं लावण्य परियोजना तथा कला के विभिन्न अंगों जैसे सादृश्य, वर्णिका भंग, रूपभेद, प्रमाण आदि के परिप्रेक्ष में कोटा शैली के लघुचित्र राजस्थान की लघुचित्र शैलियों में अपना एक अलग विशिष्ट तथा स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं।

राजस्थान के एकीकरण से पूर्व कोटा एक स्टेट कहलाता था। शाहजहाँ काल में बूँदी के हाड़ा राजवंशीय रावराजा रतनसिंह के द्वितीय पुत्र माधवसिंह ने स्वतंत्र कोटा राज्य की स्थापना की थी। राजस्थान के कोने में बसा हुआ कोटा चम्बल की विशाल लहरों की मधुर संगीत की स्वरलहरी से अभिभूत एक पहाड़ी नगर है। चम्बल की पहाड़ियों की भांति ही यहाँ के कुशल चित्रकारों द्वारा अत्यधिक श्रम से तैयार किये हुए लघु-चित्र भी अपना सानी नहीं रखते।

कोटा के लघुचित्रों में एक ओर जहां तत्कालीन चित्रकारों की कोमलकांत कल्पना की उड़ान उजागर होती है वहां दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का स्वाभाविक चित्र अत्यंत सजीव रूप में निखार पाता हुआ दिखाई देता है।

अभिव्यक्ति के काल्पनिक क्षेत्र में गहरे तक प्रवेश करके भी कोटा की लघुचित्र शैली का कलाकार चित्र निर्माण के प्रयोजन-सूत्रों, जीवन्त घटनाओं, ऐतिहासिक तथ्यों को नहीं भुला पाया है। उसने शिकार या आखेट सम्बन्धी चित्र भी बनाए हैं और राजाओं का आकृति-अंकन भी किया है। धार्मिक आयोजनों और प्रसंगों पर भी अपनी कूची चलाने से कोटा के कलाकार वंचित नहीं रहे।

कोटा के निर्माता माधवसिंह में वीरोचित गुणों के साथ-साथ कला प्रेम भी था किन्तु उन्हें राजकाज में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि कला अथवा कलाकारों के लिए विशेष रूप से अपना समय दे पाना उनके लिए सम्भव नहीं था। तत्कालीन दिल्ली सम्राट शाहजहाँ ने जो स्वयं एक कला प्रेमी था, माधवसिंह के वीरोचित गुणों से रीझकर उन्हें कोटा स्टेट का स्वतंत्र प्रशासक नियुक्त किया था।

अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के संधिकाल में कोटा की लघुचित्रकला का विकास हुआ। यह विकास महाराजा छत्रसाल एवं महाराजा रामसिंह के शासन-काल में विशेष रूप से महत्व पाता है। इस समय कोटा के चित्रकारों में लच्छीराम, रघुनाथ, गोविन्दराम तथा नूर मुहम्मद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। राजकीय संरक्षण में रहकर इन चित्रकारों ने अपनी कलात्मक प्रतिभा के अद्वितीय नमूने प्रस्तुत किये हैं।

दरबारी दृश्य और जुलूस, श्रीकृष्ण की जीवन-लीला से सम्बन्धित चित्र, राजाओं की शबीहें और प्रारम्भ में कोटा शैली के कलाकारों के प्रिय विषय रहे। बारहमासा, राग-रागनियां तथा युद्ध निदर्शन आदि विषयों पर भी पर्याप्त चित्र बनाये गए।

श्रीकृष्ण की लीलाओं को लेकर कोटा शैली में जो चित्र बने हैं वे पुष्टिमार्गीय भक्ति भावना से ओतप्रोत हैं। श्रीकृष्ण के जन्म के अवसर पर लहराती-गहराती हुई यमुना नदी और आसमान पर घुमड़ती घटा के भयावह वातावरण के मध्य नन्दजी का श्रीकृष्ण को लेकर गोकुल पहुँचना। दशावतार की झांकियों के साथ श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं के प्रेरक दृश्य। तिलक और टोपी लगाए ग्वाल-बालों की गोचारण एवं अन्य क्रीड़ाओं यथा माखन लीला आदि का चित्रांकन कोटा के लघुचित्रों में अत्यंत आकर्षक एवं समीचीन हुआ है।

भ्रमरगीत गाती हुई गोपियाँ, उद्धव द्वारा उन्हें किया जा रहा ज्ञानोपदेश, श्रीकृष्ण तथा बलराम का मथुरा गमन आदि विषयों का भी कोटा शैली के चित्रों में आकर्षक अंकन हुआ है।

कोटा शैली के जिन चित्रों में युद्ध निदर्शन हुआ है उनमें पिंडारियों के क्रोधजनित चेहरे, भ्रू भंगिमा तथा युद्धरत भावावेश को बहुत सुन्दर ढंग से अभिव्यक्ति मिली है। कदली पत्र, गौदल, पिक-शुक, मयूर आदि के अंकन ने कोटा शैली के चित्रों को अतिरिक्त सज्जा एवं सजीवता प्रदान की है।

शिकार प्रसंग के चित्र भी इस शैली की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। दुर्जन वन-प्रांतर जिनमें शेरों बाघों तथा अन्य जंगली जानवरों का आखेट। इन चित्रों की एक अन्य विशेषता यह है कि इनमें केवल पुरुषों या राजाओं मात्र को ही नहीं बल्कि नारियों अथवा रानियों को भी शिकार-रत दिखाया गया है। अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होने वाले कोटा शैली के इन शिकार चित्रों के तैयार करवाने में सेनापति हिम्मतसिंह झाला तथा जोरावरसिंह की विशेष रूचि थी और इनकी प्रेरणा से ही ऐसा सम्भव हुआ।

लोक कथाओं की संगीतात्मक ध्वनियों को चित्रों में बांधने तथा उन्हें रंगों से मुखर बनाने का भी कोटा शैली के चित्रकारों ने स्तुत्य प्रयास किया है। बीजां सोरठ, मधुमालती की कथा एवं ढ़ोलामारू के प्रेम प्रसंगों को जिस कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति मिली है वह इन चित्रों में देखते ही बनती है। चित्रकार लच्छीराम का कार्य इस दिशा में उल्लेखनीय एवं सराहनीय कहा जा सकता है।

कोटा शैली में पुष्टिमार्गीय कथा प्रसंगों को अधिकांशत चित्रकार रघुनाथ तथा गोविन्द ने चित्ररूप में उजागर किया है। साथ ही उन्होंने वल्लभ स्वामी तथा आचार्यों के जीवन प्रसंगों की चित्रावलियां, गोवर्धन पूजा, अन्नकूट आदि के दृश्यांकन करके भी अविरल रस की सृष्टि की है। भगवान श्री नाथ जी के भक्त, कतिपय कोटा के शासकों के चित्र भी इन्हीं के द्वारा चित्रित किये गए हैं।

कोटा के रावराजा भीमसिंह चित्रकला के अच्छे प्रोत्साहनकर्त्ता सिद्ध हुए। इनके समय गोसाईं गिरधरलाल जी भी चित्ररचना में सिद्धहस्त हुए। महाप्रभु श्रीकृष्ण का यशोगान अपनी चित्र रचनाओं से आगे चलकर अन्य गोसाईं कलाकारों ने भी किया।

कोटा शैली के लघुचित्रों में हम पुरुषाकृति को मुख्यतः वृषभ स्कंध, उन्नतभौंह, मोतियों की माला धारण किये हुए मांसल देह रूप में देखते हैं। मुख पर भरी-भरी दाढ़ी और मूँछें। तलवार, कटार आदि हथियारों से

युक्त वेशभूषा तथा मोतियों जड़े आभूषण इन आकृतियों की छवि में चार चाँद लगाते से प्रतीत होते हैं।

नारी आकृतियां पुरुषाकृतियों से अधिक सुन्दर बन पड़ी हैं। पीन अधर, सुदीर्घनासिका, मृगलोचनी नायिका की कटि क्षीण दिखाई गई है तथा उरोज उन्नत हैं। कपोल खिले हुए, सुन्दर अलकावलि तथा कदली सम जंघाएं नारी आकृति को इन चित्रों में एक खास जीवन्तता प्रदान करती हुई लगती हैं। नारी आकृति का कद यद्यपि कोटा शैली में अपेक्षाकृत छोटा तथा मोटा दिखाया गया है तथापि चेहरा गोल आँखें कटाक्षयुक्त लम्बी और सुहानी चित्रित की गई हैं।

कोटा के चित्रकारों ने यों तो अनेक रंगों का प्रयोग अपने चित्रों में किया है किन्तु हल्के हरे, पीले एवं नीले रंग का प्रयोग सामान्यतः बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है।

शिल्प की दृष्टि से और विशेषकर पर्दाज के काम में कोटा शैली अलवर शैली के निकट है, किन्तु इस प्रकार के चित्रों की संख्या अत्यंत नगण्य होने के कारण कला प्रेमियों का ध्यान इस ओर नहीं जा सका है।

आलेखन की सूक्ष्म गरिमा से युक्त कोटा की लघुचित्र शैली सहज, बोधगम्य एवं रसरुचिगम्य युक्त एक स्वतंत्र आधार वाली मनोहारी चित्र शैली है जो कला के विभिन्न आयामों का संतुलित एवं समीचीन दिग्दर्शन कराने में सक्षम है। □

बीकानेर शैली

श्री कुमार सम्भव

राजस्थान की लघुचित्र शैलियों के अन्तर्गत बीकानेर शैली के उन्नायक महाराज अनूपसिंह की कलाप्रियता यहां के राजवंश में विशिष्ट एवं अद्वितीय थी। वे कला और कलाकार दोनों का मान करते थे। उनके आश्रय में रहकर तत्कालीन कुशल कलाकारों ने एक मौलिक किन्तु स्थानीय, प्रौढ़ किन्तु परिमार्जित चित्रशैली को जन्म दिया जिसे बीकानेर शैली के नाम से अभिहित किया जाता है।

बीकानेर शैली के लघुचित्र यद्यपि अन्य राजस्थानी चित्रों के मुकाबले में संख्या में अधिक नहीं हैं तथापि इस शैली के जितने भी चित्र उपलब्ध हैं वे ग्राम्यकला के अनुरूप चित्रण के मार्मिक दृष्टिकोण से समृद्ध कला शैली के अद्वितीय नमूने हैं।

राजस्थान के उत्तर में स्थित बीकानेर राज्य में फली, फूली और पनपी बीकानेर लघुचित्र शैली का उद्‌भव एवं विकासकाल १७वीं से १८वीं सदी माना जाता है। बीकानेर स्टेट के तत्कालीन नरेश महाराजा अनूपसिंह के राज्यकाल में हमें इस शैली का समृद्ध स्वरूप दिखाई देता है।

भौगोलिक दृष्टि से राजस्थान के उत्तर में पंजाब से संटा हुआ होने के कारण बीकानेर राज्य पंजाब की कलाओं से काफी सम्बद्ध रहा अतः यहां की लघुचित्र शैलियों पर उनका प्रभाव स्वाभाविक रूप से पड़ा।

बीकानेर स्टेट की स्थापना के बाद से ही दिल्ली के मुगल शासन पर यहां के राजवंश के वीरतापूर्ण कृत्यों का प्रमुख एवं मान्य प्रभाव था। साथ

ही वे वहां की राज्याश्रयी कला में भी रुचि रखते थे। यही कारण है कि मुगल शासकों द्वारा बीकानेर की कला का समुचित आदर किया गया तथा उसे प्रवाहमान रखने एवं बल देने में यथासाध्य सहयोग किया गया। इसका एक विपरीत परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर बीकानेर शैली मुगल कला की अनुगामिनी हो उठी। फिर भी कौशल एवं शिल्प के अनुपम चमत्कार और पृष्ठभूमि के प्राकृतिक अंकन सौष्ठव के कारण बीकानेर शैली अपना निजत्व कायम रक्खे रही। अनुगामिनी होकर भी वह मुगल शैली में खोयी नहीं, लुप्त नहीं हुई।

बीकानेर शैली के चित्रों के प्रमुख विषय हैं राजा महाराजाओं के पोर्ट्रेट्स (शबीहें) दरबार एवं आखेट के दृश्य, राग रागनियों का चित्रांकन तथा मुगल काल के चित्रों की प्रतिलिपियां। रसिकप्रिया एवं अन्य शृंगारिक आख्यानों को भी बीकानेर के चित्रकारों ने अपनी कूची के माध्यम से रंगों में बांधा है।

फव्वारों, दरबारी सजावट एवं दृश्यांकनों में बीकानेर शैली के लघु-चित्र दक्षिणी कला शैली के पर्याप्त निकट हैं। इसका कारण कदाचित् यह रहा है कि यहां के शासकों की नियुक्ति दक्षिण में बहुत रही है। इस तथ्य का जिक्र श्री हरमन गोइत्ज ने अपनी पुस्तक 'आर्ट एवं आर्किटेक्ट ऑफ बीकानेर' में किया है।

भागवत् कथा सम्बन्धी कतिपय चित्र भी जो नगर के एक प्रमुख संग्राहक के संग्रह में उपलब्ध हैं, विषय वस्तु की दृष्टि से बीकानेर शैली के सुन्दर चित्रों में से हैं।

बीकानेर राज्य के चित्र संग्रह, भित्ति चित्रांकनों एवं लिखित एवं चित्रित पोथीग्रंथों का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि बीकानेर के तत्कालीन कलाकार अत्यन्त प्रतिभाशाली और समृद्ध कला चेतना के हामी थे। बीकानेर शैली के लघुचित्रों को डॉ० हरमन गोइत्ज तथा महाराजा गंगासिंह द्वारा प्रकाशित भी करवाया गया है। इस शैली की मूल एवं स्वतंत्र चित्रकृतियां तथा प्रतिलिपियां अत्यधिक आकर्षक तथा कलात्मक बन पड़ी हैं। श्री आनन्द कुमारास्वामी ने अपनी पुस्तक 'राजपूत पेन्टिंग्ज' में 'सारस मिथुन' चित्र के सन्दर्भ में इस शैली के महत्वपूर्ण स्वरूप का बोध कराया है।

बीकानेर शैली के लघुचित्रों में आकाश को सुनहरे छल्लों से युक्त, मेघाच्छादित दिखाया गया है। मेघ मालाओं का आकार गोल श्वेत और नीलाभ रंगों से युक्त होता है, जो चीनी रंग योजना के नजदीक है। नीला-काश में खण्ड अथवा स्वतन्त्र रूप से बिखरे हुए मेघों की झालरें खूब शोभा-यमान और दृष्टि को बरबस बांधने वाली बन पड़ी हैं।

इन चित्रों में पीले रंग को प्रमुखता प्राप्त हुई है। वेशभूषा की दृष्टि से बीकानेर के लघुचित्र मुगल शैली से बेहद प्रभावित हैं तथा कहीं कहीं इन पर जोधपुर या मारवाड़ शैली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

अधिकांशतः पीला और गुलाबी तथा किनारों पर पीला और लाल रंग बीकानेर शैली के चित्रों की एक सामान्य पहचान है।

पुरुषों की आकृतियां उग्र, दाढ़ी मूछों से युक्त, वीरभाव को प्रदर्शित करती हुई होती हैं। पुरुष ऊंची शिखराकार पगड़ियां बांधे हुए, फैले हुए जामे पहने तथा लम्बे और तीखे खड्ग हाथ में लिए हुए दिखाए गए हैं।

नारी आकृतियां जोधपुर और मुगल शैली के नारियों के समन्वित स्वरूप की झांकी प्रस्तुत करती हुई सी हैं। आंखें, होंठ, नाक, और सम्पूर्ण कद के चित्रण में बीकानेर शैली के कलाकार ने नारी आकृति को अनूठा सौन्दर्य प्रदान किया है। कोमल और मनोमुग्धकारी आकृतियों के साथ-साथ इन चित्रों में दृश्य चित्रण का सम्मिश्रण भी बड़े समीचीन ढंग से हो सका है।

महाराज अनूपसिंह, रायसिंह तथा कर्णसिंह आदि के राज्यकाल में जिन चित्रकारों ने बीकानेर की लघु चित्रकला को समृद्ध बनाने में योगदान किया उनमें से कतिपय के नाम इस प्रकार हैं : रुक्मुद्दीन, रहीम खां, नाथू, मुराद, कायम, शाह मुहम्मद, रामलाल, अलीरजा एवं हसन आदि।

परिश्रमसाध्य मुगल चित्रों की प्रतिलिपियों और विभिन्न विषयों पर आधारित चित्रमालाओं के साथ ही बीकानेर शैली की अनेक मूल एवं स्वतन्त्र आकृतियों के आधार पर यह कहना युक्ति संगत होगा कि बीकानेर शैली के लघुचित्र मौलिक रूप से अपना एक अलग अस्तित्व रखते हैं और रेखाओं की गतिमयता, रंगों के आकर्षक प्रयोग तथा आलेखन की सहजता के कारण राजस्थान की अन्य लघुचित्र शैलियों से किसी तरह कम नहीं हैं। शब्दों की पकड़ से परे इस शैली से अनेक मौलिक संकेत मिलते हैं जो इसे एक स्वतन्त्र और संतुलित कला शैली के रूप में स्थापित करते हैं। □

राजस्थानी लघु-चित्रकला विषयवस्तु और रूपांकन

श्री बृजेश कुलश्रेष्ठ

भारतवर्ष में अति प्राचीनकाल में चित्रकला का विकास हो चुका था। सिन्धु सभ्यता में ठोकरों पर जो चित्रकारी हुई, वह पांच हजार वर्ष पूर्व का इतिहास है। वेदों के समय भी चित्रों का चलन था। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकला को देखकर लगता है कि उस जमाने में चित्रकला अपनी चरम अवस्था पर थी। गुप्त-काल के पश्चात् चित्रकला का ह्रास होता चला गया। पठानों के काल में तो चित्रकला लुप्तप्रायः हो गयी। आगे चलकर इस्लाम में जब उदारता आई तो मुस्लिम समाज कला की ओर बढ़ने लगा। चित्रकला की अजस्रधारा फिर फूट पड़ी और उसने मानव मन को सींच-सींच हरा-भरा बना दिया। मुगल काल में चित्रकला का रूप फिर निखर उठा। यहां तक कि एक अलग ही मुगल शैली चल पड़ी। मुगल कलम शुद्ध भारतीय कलम के रूप में प्रकट हुई। लेकिन जो नींव बाबर ने डाली और अकबर तथा शाहजहां ने उस पर महल खड़ा किया, औरंगजेब ने एक ही झटके में उसे ढहा दिया। मुगल दरबार के कलाकार इधर-उधर भागने लगे। राजपूताने के रजवाड़ों ने इन भटके हुए कलाकारों को हाथों-हाथ उठा लिया। अब चित्रकला राजस्थान में पनपने लगी।

लेकिन वह काल राजस्थान में चित्रकला का प्रारम्भिक काल नहीं था। राजस्थान में चित्रकला का प्रारम्भ उससे पहले ही हो चुका था। राजस्थानी चित्रकला के विकास में सबसे महत्वपूर्ण योगदान मेवाड़ का रहा। पांचवीं शताब्दी में गुजरात में जैन शैली का पूरा जोर था। निकटवर्ती क्षेत्र होने के कारण मेवाड़ में जो चित्रकला पनपी उसमें जैन शैली की पूरी

छाप थी। सोलहवीं शताब्दी तक मेवाड़ में चित्रकला का विकास हो चुका था। इस प्रकार राजस्थानी चित्रकला का इतिहास लगभग ४०० वर्ष पुराना है।

स्थानीय परिवेश, भौगोलिक स्थिति, जैन शैली एवं मुगल शैली के योग से, राजस्थान में विभिन्न शैलियों का जो विकास हुआ उसे देख कर सारा विश्व विमुग्ध हो उठा। राजस्थानी चित्र शैलियों में मुगल शैली का प्रभाव तो था, किन्तु अन्तर भी बहुत था। मुगल शैली अगर शरीर थी तो राजस्थान शैली आत्मा। यहां के चित्रकार फोटोग्राफर नहीं थे, वरन् सही अर्थों में चित्रकार थे। राजस्थानी शैली की भावधारा अजन्ता के उत्स से फूट कर आगे बढ़ी। राजस्थानी चित्रों के विषय में अबुल फजल का कथन है कि वस्तुओं के विषय में हमारा जो ज्ञान है ये चित्र उससे बहुत आगे का संकेत करते हैं। हिन्दुत्व के संयम, वैराग्य, पवित्रता और योगाचार तथा कोमलता और क्रोध सबका सम्यक प्रतिनिधित्व इन चित्रों में हुआ है।

मुगलों ने जीवन को भोग, आनन्द और उल्लास के रूप में देखा लेकिन राजपूत कलम ने जीवन को अनन्त साधना का विषय माना। मूर्ति-पूजक न होने के कारण मुगल शैली में संत एवं महात्माओं के स्थान पर बादशाहों एवं उनकी विलास-क्रीड़ा पर ही चित्र बने। इसके विपरीत राज-स्थान के कलाकारों ने क्योंकि जीवन को अनन्त साधना का विषय माना था। अतः उनमें धार्मिकता एवं श्रृंगारिकता दोनों ही रहीं। आदर्शों की जो छाप अजन्ता कलम में थी, राजस्थानी शैली में वही ज्यों की त्यों विद्यमान रही।

राजस्थान में अलग-अलग रियासतों में अलग-अलग शैलियां पनपीं और उसी रियासत के नाम से प्रसिद्ध हो गई। मुगलों के बाद जो कलाकार अपनी रियासतों में आये उनमें अधिकांश राजाश्रय में ही अपनी कला निखारते रहे। जोधपुर, उदयपुर, कोटा, बून्दी, किशनगढ़, नाथद्वारा, अल-वर और बीकानेर शैलियां रियासती शैलियों के रूप में आज भी प्रसिद्ध हैं।

राजस्थान की इन विभिन्न शैलियों के चित्रों के विषयों को देखकर बेहद आश्चर्य होता है। राजस्थान सूरमाओं का देश रहा है—प्रलयंकर भवानी के अनन्य भक्तों का। लेकिन इन देवी देवताओं पर चित्र नहीं के बराबर बने। लगता है भगवान श्रीकृष्ण की माधुरी लीला ने यहां के राजपूतों पर बेहद प्रभाव डाला। राजपूतों के हिंसक स्वभाव को अहिंसक बनाने में भगवान श्रीकृष्ण का पूर्ण योग रहा। यही कारण है कि राजस्थान की लगभग प्रत्येक शैली में राधाकृष्ण का किसी न किसी रूप में अंकन हुआ है। कांगड़ा शैली में 'गीत-गोविन्द' पर, उदयपुर शैली में भागवत की कथा पर तथा कृष्ण लीला पर। जयपुर, कोटा और किशनगढ़ शैली में कृष्ण चरित्र पर ढ़ेर सारे चित्र बने। इसके अतिरिक्त चित्रों के विषयों पर, स्थानीय परिवेश एवं शासकों की रुचि का भी विशेष प्रभाव पड़ा। यहां के

राजा जिस प्राण-प्रण से युद्ध में जूझे उतने ही मन से वे भोग-विलास एवं रसिकता में भी डूबे। राजाओं की इस रसिकप्रिय क्षुधा को, काफी हद तक, स्थानीय कवियों एवं चित्रकारों ने शान्त किया। केशव ने कविता दी तो कांगड़ा शैली के चित्रकारों ने उस कविता को चित्रों में बांध दिया। इसी शैली में नायिका भेद पर भी पर्याप्त संख्या में चित्र बने। जोधपुर शैली में 'ढोला-मारू' की प्रेम कथा चित्रों में अवतरित हुई। उदयपुर शैली में महाकवि बिहारी की कविताएं एवं पंचतंत्र की कथाएं साकार हुईं तो नाथद्वारा शैली में सूर की बाल लीलाएं मचल उठीं। जयपुर शैली में राग रागनियों पर ढेर सारे चित्र बने। किशनगढ़ शैली में संयोग श्रृंगार एवं मान-मिलन के भाव पर चित्रांकन हुआ। लेकिन वेश्याओं के चित्र केवल अलवर शैलो में ही बन पाये।

राजस्थान के चित्रकारों ने चित्रों की प्राकृतिक पृष्ठभूमि को सजाने के लिये प्रकृति में फैले अनन्य साधनों का प्रयोग किया। लता, वृक्ष, पर्वत, सरोवर, पुष्प, चन्द्रमा, तारागण आदि के अतिरिक्त सत्रह प्रकार के पक्षी, नौ प्रकार के पशु एवं चार प्रकार के कीट पतंगों को चित्रांकित किया है। इन विषयों का प्रयोग स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार किया गया है।

जोधपुर एवं बीकानेर शैली में आम, ऊंट एवं घोड़े की प्रमुखता है तो उदयपुर शैली में कदम्ब एवं हाथी की। नाथद्वारा शैली में कदम्ब, गाय, एवं मयूर को अधिकांशतः दर्शाया गया है तो जयपुर शैली में पीपल, बड़, घोड़ा एवं मयूर का अंकन प्रमुख रहा। बूंदी-शैली में केला, खजूर, हिरन ज्यादातर दिखाई देते हैं तो कोटा शैली में चम्पा, सिंह और मोर प्रमुख हैं। किशनगढ़ शैली में भ्रमर की विशेषता रही।

वैसे राजस्थान के चित्रकारों ने शरद्, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा आदि ऋतुओं के खूब अंकित किया है लेकिन बादलों का अंकन विभिन्न शलियों में विभिन्न प्रकार का रहा। कांगड़ा शैली में बादल धुंए के समान हैं तो बीकानेर शैली में छल्लेदार, झालर की तरह झूलते हुए। जोधपुर शैली में गोलाकार घने बादलों में विद्युत रेखायें चमक रही हैं तो उदयपुर शैली में आकाश एकदम घना और नीला दिखाया गया है। नाथद्वारा शैली में अत्यधिक काले बादल हैं तो जयपुर शैली में नीले, बूंदी शैली में सुनहरी, लाल, पीले रंग के बादल हैं तो कोटा शैली में उमड़ते-घुमड़ते घने बादल।

राजस्थानी चित्रों का विषय काफी विस्तृत रहा है। विभिन्न प्रकार की राग-रागिनियों यथा भैरव, मालकोष, हिन्डोल, दीपक, श्री एवं मेघ के तथा विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के अतिरिक्त समाज के प्रत्येक वर्ग के स्त्री एवं पुरुषों के भी चित्र काफी मात्रा में बने। समाज के लगभग साठ प्रकार के स्त्री-पुरुषों पर इन शैलियों में चित्र अंकित हुए।

राजस्थान के कलाकारों ने पुरुषों को वीर एवं स्त्रियों को सुन्दर, सजीली एवं लजीली अंकित किया है। चित्रों में अंकित तृण देखने में इतने चेतन लगते हैं कि नववधु के पैरों की आहट तक उन्हें सुनाई दे जाती है। तब भला रमणी में चेतनता क्यों न हो। कलाकारों ने नारी के सौंदर्य को विभिन्न प्रकार से परखा एवं चित्रित किया है। उदाहरण के लिए किशनगढ़, जोधपुर एवं बीकानेर के चित्रकारों ने नारी के नेत्रों को खंजन के रूप में देखा तो उदयपुर एवं नाथद्वारा के चित्रकारों ने मृग के रूप में। जयपुर के चित्रकारों ने नारी नेत्रों की तुलना मीन से की तो बूंदी के चित्रकारों ने आम्रपत्रों से। यही बात नारी के कद के विषय में थी। जोधपुर शैली की नारी साधारण लम्बी है तो किशनगढ़ शैली की उससे अधिक लम्बी। किशनगढ़ शैली में नारी का कद अत्यधिक लम्बा हो गया। जयपुर एवं नाथद्वारा शैली में नारी का कद छोटा और कोटा शैली में उससे भी छोटा हो गया। उदयपुर एवं बूंदो शैली में नारी का कद समान रहा। राजस्थान के चित्रकारों ने नारियों को लगभग ३२ प्रकार के परिधानों एवं ३७ प्रकार के आभूषणों से सजाया-संवारा है। परिधानों को रंगों की छटा देने के लिये लगभग साठ प्रकार के रंगों का उपयोग किया गया है। पुरुषों को भी लगभग १५ प्रकार के वस्त्र एवं १४ प्रकार के आभूषणों से युक्त दिखाया गया है।

भारतीय परम्परा में शरीर जड़ और आत्मा चेतन मानी जाती है। अत: राजस्थान में जितने भी चित्र बने उनकी आकृति पर शान्ति की आभा बनी रही। शरीर का कोई भी अंग शोर मचाता सा नहीं लगता। आत्मा के चित्रण की जो परम्परा बढ़ी वह केवल देवताओं की मूर्तियों तक ही सीमित नहीं रही वरन् संतों, राजाओं, यहां तक कि नारी के चित्रों में भी मौजूद रही। राजस्थानी चित्रकारों ने प्रेम और विरह की अनन्तता तथा अदृश्य के अनुसंधान में भी अपने को पर्याप्त खपाया है। यही कारण है कि आज भी उनकी कला अमरता को ओर बढ़ती हुई दिखाई दे रही है। □

राजस्थान की लघुचित्र शैलियां

चित्र-सूची